स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

(ऐतिहासिक नाटक)

जयशङ्कर प्रसाद





प्रकाशक और विक्रेता
भारती भंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

सातवाँ संस्करण
सं० २०१३ वि०
मूल्य १||)

मुद्रक
वि० प्र० ठाकुर
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

निवेदन

(प्रथम संस्करण से)

श्री जयशंकरप्रसाद के नाटकों ने हिन्दी-साहित्य के एक अंग की बड़ी ही सुन्दर पूर्ति की है। उनकी कल्पना कितनी मार्मिक और उच्च कोटि की है—इसके विषय में कुछ कहना बाचालता मात्र होगी।

उनके नाटक हमारे स्थायी साहित्य के भंडार को अमूल्य रत्न देने के सिवा एक और महत् कार्य कर रहे हैं, वह है हमारे इतिहास का उद्धार। महाभारत युग के 'नागयज्ञ' से लेकर हर्षकालीन 'राज्यश्री' प्रभृति नाटकों से वे हमारे लुप्त इतिहास का पुनर्निर्माण कर रहे हैं। ऐसा करने में चाहे बहुत-सी बातें कल्पना-प्रसूत हों, किन्तु 'प्रसाद' जी की वे कल्पनाएँ ऐसी मार्मिक और अपने उद्दिष्ट समय के अनुकूल हैं कि वे उस समय की पूर्ति कर देती हैं जो विस्मृति के तिमिर में विलीन हो गया है।

किसी काल के इतिहास का जो गूदा है—अर्थात् महापुरुषों की वे कहानियाँ, जिनके कारण उस काल के इतिहास ने एक विशिष्ट रूप पाया है, उसे यदि कोई लेखक अपने पाठकों के सामने प्रत्यक्ष रख सके, तो उसने झूठा नहीं कहा, वह सत्य ही है, चाहे वास्तविक हो या कल्पित।

भगवान् कृष्ण ने गीता के रूप में जो अमृत हमें दिया है, उसका चाहे सौ पुरुष सौ रूप में वर्णन करें, पर यदि उन रंगीन मटकों में से हम उस अमृत का पान कर सकते हैं, तो वे सब के-सब उसके लिए समुचित भाजन ही ठहरे—व्यर्थ के कृत्रिम आडम्बर नहीं।

गुप्त-काल (२७५ ई०–५४० ई० तक) अतीत भारत के उत्कर्ष का मध्याह्न है। उस समय आर्य्य-साम्राज्य मध्य-एशिया से जावा-सुमात्रा तक फैला हुआ था। समस्त एशिया पर हमारी संस्कृति का झंडा फहरा

रहा था। इसी गुप्तवंश का सबसे उज्ज्वल नक्षत्र था—स्कन्दगुप्त। उसके सिंहासन पर बैठने के पहले ही साम्राज्य में भीतरी षड्यन्त्र उठ खड़े हुए थे। साथ ही आक्रमणकारी हूणों का आतंक देश में छा गया था और गुप्त-सिंहासन डाँवाडोल हो चला था। ऐसी दुरवस्था में लाखों विपत्तियाँ सहते हुए भी जिस लोकोत्तर उत्साह और पराक्रम से स्कन्दगुप्त ने इस स्थिति से आर्य्य साम्राज्य की रक्षा की थी—पढ़ कर नसों में बिजली दौड़ जाती है। अन्त में साम्राज्य का एक-छत्र चक्रवर्तित्व मिलने पर भी उसे अपने वैमात्र एवं विरोधी भाई पुरगुप्त के लिए त्याग देना, तथा स्वयं आजन्म कौमार-जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करना, ऐसे प्रसंग हैं जो उसके महान् चरित्र पर मुग्ध ही नहीं कर देते, बल्कि देर तक सहृदयों को करुणासागर में निमग्न कर देते हैं।

कई कारणों से इस नाटक के निकलने में कुछ समयों की देर होगई। किन्तु उतनी ही देरी साहित्य प्रेमियों को—जो इसके स्वागत के लिए लालायित हो रहे थे—असह्य हो उठी है। उनके तगादे-पर-तगादे आ रहे हैं, अतएव हम उनसे इस देर के लिए क्षमा-प्रार्थी हैं।

भाद्रपदी पूर्णिमा '८८ —प्रकाशक

पुरुष-पात्र

स्कन्दगुप्त— युवराज (विक्रमादित्य)
कुमारगुप्त— मगध का सम्राट्
गोविन्दगुप्त— कुमारगुप्त का भाई
पर्णदत्त— मगध का महानायक
चक्रपालित— पर्णदत्त का पुत्र
बन्धुवर्मा— मालव का राजा
भीमवर्मा— बन्धुवर्मा का भाई
मातृगुप्त— काव्यकर्त्ता कालिदास
प्रपंचबुद्धि— बौद्ध कापालिक
शर्वनाग— अंतर्वेद का विषयपति
कुमारदास (धातुसेन)— सिंहल का राजकुमार
पुरगुप्त— कुमारगुप्त का छोटा पुत्र
भटार्क— नवीन महाबलाधिकृत
पृथ्वीसेन— मंत्री कुमारामात्य
खिंगिल— हूण आक्रमणकारी
मुद्गल— विदूषक
प्रख्यातकीर्ति— लंकाराज-कुल का श्रमण, महाबोधि विहार-स्थविर

महाप्रतिहार, महादंडनायक, नन्दी-ग्राम का दंडनायक
प्रहरी, सैनिक इत्यादि

स्त्री-पात्र

देवकी— कुमारगुप्त की बड़ी रानी—स्कंद की माता

अनन्तदेवी— कुमारगुप्त की छोटी रानी—पुरगुप्त की माता

जयमाला— बन्धुवर्मा की स्त्री—मालव की रानी

देवसेना— बन्धुवर्मा की बहिन

विजया— मालव के धनकुबेर की कन्या

कमला— भटार्क की जननी

रामा— शर्वनाग की स्त्री

मालिनी— मातृगुप्त की प्रणयिनी

सखी, दासी इत्यादि

स्कन्दगुप्त

प्रथम अंक

[उज्जयिनी में गुप्त-साम्राज्य का स्कंधावार]

स्कंदगुप्त—(टहलते हुए) अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है! उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं! (ठहर कर) ऊँह! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।

पर्णदत्त—(प्रवेश करके) युवराज की जय हो।

स्कंदगुप्त—आर्य पर्णदत्त को अभिवादन करता हूँ। सेनापति की क्या आज्ञा है?

पर्णदत्त—मेरी आज्ञा! युवराज! आप सम्राट् के प्रतिनिधि हैं, मैं तो आज्ञाकारी सेवक हूँ। इस वृद्ध ने गरुड़ध्वज लेकर आर्य्य चन्द्रगुप्त की सेना का संचालन किया है। अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर-सेना में—उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्रधर्म्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूँ—यही कामना है। गुप्तकुल-भूषण! आशीर्वाद दीजिए, वृद्ध पर्णदत्त की माता का स्तन्य लज्जित न हो।

स्कंदगुप्त—आर्य! आपकी वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिन्धु की लोल लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुए सुने जाते हैं। तब भी सन्देह!

पर्णदत्त—सन्देह दो बातों से है युवराज!

स्कंदगुप्त—वे कौन-सी हैं?

पर्णदत्त—आपके अधिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और अयोध्या में नित्य नये परिवर्तन।

स्कंदगुप्त—क्या अयोध्या का कोई नया समाचार है?

पर्णदत्त—संभवतः सम्राट् तो कुसुमपुर चले गये हैं, और कुमारामात्य महाबलाधिकृत वीरसेन ने स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया।

स्कंदगुप्त—क्या! महाबलाधिकृत अब नहीं हैं! शोक!

पर्णदत्त—अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं। इधर प्रौढ़ सम्राट् के विलास की मात्रा बढ़ गई है।

स्कंदगुप्त—चिन्ता क्या! आर्य! अभी तो आप हैं, तब भी मैं ही सब विचारों का भार वहन करूँ, अधिकार का उपयोग करूँ! वह भी किस लिए?

पर्णदत्त—किस लिए? त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए आपको अपने अधिकारों का उपयोग करना होगा। युवराज! इसीलिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं, जिसकी मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं!

स्कन्दगुप्त—सेनापते! प्रकृतिस्थ होइए! परम भट्टारक महाराजाधिराज अश्वमेध पराक्रम श्रीकुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के सुशासित राज्य की सुलालित प्रजा को डरने का कारण नहीं है। गुप्त सेना की मर्यादा की रक्षा के लिए पर्णदत्त सदृश महावीर अभी प्रस्तुत हैं।

पर्णदत्त—राजनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक

नहीं है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है। गुप्त-साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ उसका दायित्व भी बढ़ गया है, पर उस बोझ को उठाने के लिए गुप्तकुल के शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य-लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपनी शरण आने वाली वस्तु समझने लगे हैं।

स्कन्दगुप्त—आर्य्य ! इतना व्यंग न कीजिए, इसके कुछ प्रमाण भी हैं?

पर्णदत्त—प्रमाण ! प्रमाण अभी खोजना है ! आँधी आने के पहले आकाश जिस तरह स्तम्भित हो रहता है, बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादम्बिनी का मनोहर आवरण महाशून्य पर चढ़ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है?

स्कंदगुप्त—क्या पुष्यमित्रों के युद्ध को देख कर वृद्ध सेनापति चकित हो रहे हैं? *(हँसता है)*

पर्णदत्त—युवराज ! व्यंग न कीजिए। केवल पुष्यमित्रों के युद्ध से ही इतिश्री न समझिए, म्लेच्छों के भयानक आक्रमण के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिए। चरों ने आज ही कहा है कि कपिशा को श्वेत हूणों ने पदाक्रान्त कर लिया ! तिस पर भी युवराज पूछते हैं कि 'अधिकारों का उपयोग किस लिए' ! यही 'किस लिए' प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को 'गले-पड़ी' वस्तु समझने लगे हैं।

(चक्रपालित का प्रवेश)

चक्रपालित—(देखकर) अरे युवराज भी यहीं हैं। युवराज की जय हो।

स्कंदगुप्त—आओ चक्र ! आर्य्य पर्णदत्त ने मुझे घबरा दिया है।

चक्र०—पिताजी! प्रणाम! कैसी बात है?

पर्ण०—आयुष्मान्! तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों से उदासीन हैं। वे पूछते हैं 'अधिकार किस लिए।'

चक्र०—तात! इस 'किस लिए' का अर्थ मैं समझता हूँ।

पर्ण०—क्या?

चक्र०—गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम।

स्कन्दगुप्त—चक्र, सावधान! तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है?

चक्र०—युवराज! यह अनुमान नहीं है, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

पर्ण०—(*गम्भीरता से*) चक्र! यदि यह बात हो भी, तब भी तुमको ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक! अपनी चंचलता को विष-वृक्ष का बीज न बना देना।

स्कन्दगुप्त—आर्य्य पर्णदत्त क्षमा कीजिए। हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता।

पर्ण०—ठीक है, किन्तु उसे इतनी शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। (*देखकर*) चर आ रहा है, कोई युद्ध का नया समाचार है क्या?

(*चर का प्रवेश*)

'युवराज की जय हो!'

पर्ण०—क्या समाचार है?

चर—अब की बार पुष्यमित्रों का अन्तिम प्रयत्न है। वे अपनी समस्त शक्ति संकलित करके बढ़ रहे हैं। मालवीर-सेना के नायक ने सहायता माँगी है। दशपुर से भी दूत आया है।

स्कन्दगुप्त—अच्छा, जाओ, उसे भेज दो।

(*चर जाता है, दशपुर के दूत का प्रवेश*)

'युवराज भट्टारक की जय हो!'

स्कंद०—मालवपति सकुशल हैं?

दूत—कुशल आपके हाथ है। महाराज विश्ववर्मा का शरीरान्त हो गया है। नवीन नरेश महाराज बन्धुवर्मा ने अभिवादन श्रीचरणों में सन्देश भेजा है।

स्कंद०—खेद! ऐसे समय में, जबकि हम लोगों को मालवपति से सहायता की आशा थी, वह स्वयं कौटुम्बिक आपत्तियों में फँस गये हैं!

दूत—इतना ही नहीं शक-राष्ट्रमण्डल चंचल हो रहा है, नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रान्त हो चुका है, इसी कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित न रहा।

(स्कंदगुप्त पर्णदत्त की ओर देखते हैं)

पर्ण०—वलभी का क्या समाचार है?

दूत—वलभी का पतन अभी रुका है। किन्तु बर्बर हूणों से उसका बचना कठिन है। मालव की रक्षा के लिए महाराज बन्धुवर्मा ने सहायता माँगी है। दशपुर की समस्त सेना सीमा पर आ चुकी है।

स्कंद०—मालव और शकयुद्ध में जो सन्धि गुप्त-साम्राज्य और मालव राष्ट्र में हुई है, उसके अनुसार मालव की रक्षा गुप्त-सेना का कर्तव्य है। महाराज विश्ववर्मा के समय से ही सम्राट् कुमारगुप्त उनके संरक्षक हैं। परन्तु दूत! बड़ी कठिन समस्या है।

दूत—विषम-व्यवस्था होने पर भी युवराज! अमात्य ने संरक्षकता का भार लिया है।

पर्ण०—दूत! क्या तुम्हें विदित नहीं है कि पुष्यमित्रों से हमारा युद्ध चल रहा है?

दूत—तब भी मालव ने कुछ समझकर, किसी आशा पर ही, अपनी स्वतन्त्रता को सीमित कर लिया था।

स्कंद०—दूत! केवल सन्धि नियम ही से हम लोग बाध्य नहीं हैं, किन्तु शरणागत रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त समस्त सेना लेकर पुष्यमित्रों की गति रोकेंगे। अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंदगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।

दूत—धन्य युवराज! आर्य्य-साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात है। (*प्रणाम करके जाता है*)

पर्ण०—युवराज! आज यह वृद्ध, हृदय से प्रसन्न हुआ। और गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी भी प्रसन्न होंगी।

चक्र०—तात! पुष्यमित्र-युद्ध का अन्त तो समीप है। विजय निश्चित है। किसी दूसरे सैनिक को भेजिए। मुझे युवराज के साथ जाने की अनुमति हो।

स्कंद०—नहीं चक्र, तुम विजयी होकर मुझसे मालव में मिलो। ध्यान रखना होगा कि राजधानी से अभी कोई सहायता नहीं मिलती। हम लोगों को इस आगत विपद् में अपना ही भरोसा है।

पर्ण०—कुछ चिन्ता नहीं युवराज! भगवान् सब मंगल करेंगे, चलिए, विश्राम करें।

[पट-परिवर्तन]

[कुसुमपुर के राज-मन्दिर में सम्राट् कुमारगुप्त और उनके परिषद्]

धातुसेन—परम भट्टारक! आपने भी स्वयं इतने विकट युद्ध किये हैं। मैं तो समझा था, राजसिंहासन पर बैठे-बैठे राजदंड हिला देने से ही इतना बड़ा गुप्त-साम्राज्य स्थापित हो गया था, परन्तु—

कुमारगुप्त—(हँसते हुए) तुम्हारी लंका में क्या राक्षस नहीं रहते? क्यों धातुसेन!

धातुसेन—राक्षस यदि कोई था तो विभीषण और बन्दरों में भी एक सुग्रीव हो गया था। दक्षिणापथ आज भी उनकी करनी का फल भोग रहा है। परन्तु हाँ, एक आश्चर्य की बात है कि महामान्य परमेश्वर परम भट्टारक को भी युद्ध करना पड़ा! राम चन्द्र ने तो, सुना था, जब वे युवराज भी न थे तभी युद्ध किया था। सम्राट् होने पर भी युद्ध!

कुमार०—युद्ध तो करना ही पड़ता है। अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है।

धातु०—अच्छा तो स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त ने यवनों तक का राज्य-विजय किया था, सो उनके लिए परम आवश्यक था? क्या पाटलीपुत्र के समीप ही वह राष्ट्र था?

कुमार०—तुम भी बालि की सेना में से कोई बच रहे हो!

धातु०—परम भट्टारक की जय हो! बालि की सेना न थी, और वह युद्ध न था। जब उसमें लड्डू खाने वाले सुग्रीव निकल पड़े, तब फिर—

कुमार०—क्यों?

धातु०—उनकी बड़ी सुन्दर ग्रीवा में लड्डू अत्यन्त सुशोभित होता था, और सबसे बड़ी बात तो थी बालि के लिए—उनकी ताप का मंथन। सुना है सम्राट्! स्त्री की मंत्रणा बड़ी अनुकूल

और उपयोगी होती है, इसीलिए उन्हें राज्य की झंझटों से शीघ्र छुट्टी मिल गई। परम भट्टारक की दुहाई! एक स्त्री को मंत्री आप भी बना लें, बड़े-बड़े दाढ़ी मूँछवाले मंत्रियों के बदले उसकी एकान्त मंत्रणा कल्याणकारिणी होगी।

कुमार०—(*हँसते हुए*) लेकिन पृथ्वीसेन तो मानते ही नहीं।

धातु०—तब मेरी सम्मति से वे ही कुछ दिनों के लिए स्त्री हो जायँ, क्यों कुमारामात्यजी?

पृथ्वीसेन—पर तुम तो स्त्री नहीं हो, जो मैं तुम्हारी सम्मति मान लूँ!

कुमार०—(*हँसता हुआ*) हाँ, तो आर्य्य समुद्रगुप्त को विवश होकर उन विद्रोही विदेशियों का दमन करना पड़ा, क्योंकि मौर्य्य साम्राज्य के समय से ही सिन्धु के उस पार का देश भी भारत साम्राज्य के अन्तर्गत था। जगद्विजेता सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस से उस प्रान्त को मौर्य्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने लिया था।

धातु०—फिर तो छीनकर ले लेने की एक परम्परा सी लग जाती है। उनसे उन्होंने, उन्होंने उनसे, ऐसे ही लेते चले आये हैं। उसी प्रकार आर्य्य!

कुमार०—ऊँह! तुम समझते नहीं। मनु ने इसकी व्यवस्था दी है।

धातु०—नहीं धर्मावतार! समझ में तो इतनी बात आ गई कि लड़कर ले लेना ही एक प्रधान स्वत्व है। संसार में इसी का बोलबाला है।

भटार्क—*नहीं तो क्या रोने से भीख माँगने से कुछ अधिकार* मिलता है! जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा! और यदि माँगकर मिल भी जाय, तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा!

मुद्गल—(प्रवेश कर के) रक्खा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर, अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा, परन्तु इस अक्षय मंजूषा का हाल मेरे सिवा कोई नहीं जानता। इसके भीतर कुछ रखकर देखो, मैं कैसी शान्ति से बैठा रहता हूँ।

(पद्मासन से बैठ जाता है)

पृथ्वीसेन—परम भट्टारक की जय हो! मुझे कुछ निवेदन करना है—यदि आज्ञा हो तो।

कुमार०—हाँ, हाँ कहिए।

पृथ्वीसेन—शिप्रा के इस पार साम्राज्य का स्कन्धावार स्थापित है। मालवेश का दूत भी आ गया है कि 'हम ससैन्य युवराज के स्वागतार्थ प्रस्तुत हैं।' महानायक पर्णदत्त ने भी अनुकूल समाचार भेजा है।

कुमार०—मालव का इस अभियान से कैसा भाव है, कुछ पता चला? क्योंकि यह युद्ध तो जान-बूझकर छेड़ा गया है।

पृथ्वी०—अपने मुख से मालवेश ने दूत से यहाँ तक कहा था कि युवराज को कष्ट देने की क्या आवश्यकता थी, आज्ञा पाते ही मैं स्वयं इसे ठीक कर लेता।

कुमार०—महासन्धि-विग्रहिक! साधु! यह वंश-परम्परागत तुम्हारी ही शिक्षा है।

पृथ्वीसेन—सम्राट् के श्री चरणों का प्रताप है। सौराष्ट्र से भी नवीन समाचार मिलने वाला है। इसीलिए युवराज को वहाँ भेजने का मेरा अनुरोध था।

भटार्क—सौराष्ट्र की गति विधि देखने के लिए एक रणदक्ष सेनापति की आवश्यकता है। वहाँ शक राष्ट्र बड़ा चञ्चल एवं च भयानक है।

पृथ्वीसेन—(गूढ़ दृष्टि से देखते हुए) महाबलाधिकृत! आप

आवश्यकता होने पर आपको यहाँ आना ही होगा, उत्कण्ठा की आवश्यकता नहीं।

भटार्क—नहीं, मैं तो

कुमार०—महाबलाधिकृत! तुम्हारी स्मरणीय सेवा स्वीकृत होगी। अभी आवश्यकता नहीं।

धातुसेन—(हाथ जोड़कर) यदि दक्षिणापथ पर आक्रमण का आयोजन हो तो मुझे आज्ञा मिले। मेरा घर पास है, मैं जाकर स्वच्छन्दता-पूर्वक लेट रहूँगा, सेना को भी कष्ट न होने पावेगा।

(सब हँसते हैं)

मुद्गल—जय हो देव! पाकशाला पर चढ़ाई करनी हो तो मुझे आज्ञा मिले। मैं अभी उसका सर्वस्वान्त कर डालूँ।

(फिर सब हँसते हैं। गम्भीर भाव से अभिवादन करते हुए—एक ओर पृथ्वीसेन और दूसरी ओर भटार्क का प्रस्थान।)

कुमार०—मुद्गल! तुम्हारा कुछ

मुद्गल—महादेवी ने प्रार्थना की है कि युवक भट्टारक की कल्याण-कामना के लिए चक्रपाणि भगवान् की पूजा की सब सामग्री प्रस्तुत है। आर्य्यपुत्र कब चलेंगे।

कुमार०—(मुँह बनाकर) आज तो कुछ पारसीक नर्तकियाँ आने वाली हैं, आपानक भी है। महादेवी से कह देना, असन्तुष्ट न हों, कल चलूँगा। समझा न मुद्गल!

मुद्गल—(खड़ा होकर) परमेश्वर परम भट्टारक की जय हो!

(जाता है)

धातुसेन—मैं चाणक्य कुछ थोड़ा पढ़ा था। उसने लिखा है कि राजपुत्र भेड़िये हैं, इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिए।

कुमार०—यह दण्ड-नीति है।

(अनन्तदेवी का चुपचाप प्रवेश)

धातु०—भूल गया। उसके बदले उस ब्राह्मण को लिखना था कि राजा लोग ब्याह ही न करें, क्यों मेढ़िकों-सी सन्तान उत्पन्न हों?

अनन्तदेवी—(सामने आकर) आर्य्यपुत्र की जय हो!

(धातुसेन भयभीत होने का-सा मुँह बनाकर चुप हो जाता है)

कुमार०—आओ प्रिये! तुम्हें खोज ही रहा था।

अनन्त०—नर्तकियों को बुलवाती आ रही हूँ। कुमारामात्य आदि ने, मंत्रणा में बाधा समझकर, जान-बूझकर देर लगाई। आपको तो देखती हूँ कि अवकाश ही नहीं।

(धातुसेन की ओर क्रुद्ध होकर देखती है)

कुमार०—यह अबोध विदेशी हँसोड़ है।

अनन्त०—तब भी सीमा होनी चाहिए।

धातु०—चाणक्य का नाम ही कौटिल्य है। उनके सूत्रों की व्याख्या करने जाकर ही यह पता मिला। क्षमा मिले तो एक बात और पूछ लूँ क्योंकि फिर इस विषय का प्रश्न न करूँगा।

अनन्त०—पूछ लो।

धातु०—उसके अर्थशास्त्र में विषकन्या का

कुमार०—(डाँटकर) चुप रहो।

(नर्तकियों का गाते हुए प्रवेश)

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से
खिंचे हुए बीन-तार कोकिल
करुण रागिनी तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल!

हृदय धूल में मिला दिया है
उसे चरण-चिह्न-सा किया है

खिले फूल सब गिरा दिया है
न अब वसन्ती बहार कोकिल।

सुनी बहुत आनन्द-भैरवी
विगत हो चुकी निशा-माधवी
रही न अब शारदी कैरवी
न तो मघा की फुहार कोकिल।

न खोज पागल मधुर प्रेम को
न तोड़ना और के नेम को
बचा विरह मौन के क्षेम को
कुचाल अपनी सुधार कोकिल।

[पट-परिवर्तन]

[पथ में मातृगुप्त]

मातृ०—कविता करना अनन्त पुण्य का फल है। इस दुराशा और अनन्त उत्कण्ठा से कवि-जीवन व्यतीत करने की इच्छा हुई। संसार के समस्त अभावों को असन्तोष कहकर हृदय को धोखा देता रहा। परन्तु कैसी विडम्बना! लक्ष्मी के लालों का भ्रू-भंग और क्षोभ की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या?—एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो कि दूसरों की दया में अपना अस्तित्व रखता है! संचित हृदय-कोष के अमूल्य रत्नों की उदारता, और दारिद्र्य का व्यंग्यात्मक कठोर अट्टहास, दोनों की विषमता की कौन-सी व्यवस्था होगी। मनोरथ को—भारत के प्रकाण्ड बौद्ध पण्डित को—पराजित करने में मैं भी सब की प्रशंसा का भाजन बना। परन्तु हुआ क्या?

(मुद्गल का प्रवेश)

मुद्गल—कहिए कविजी! आप तो बहुत दिनों पर दिखाई पड़े! कुलपति की कृपा से कहीं अध्यापन-कार्य मिल गया क्या?

मातृ०—मैं तो अभी यों ही बैठा हूँ।

मुद्गल—क्या बैठे-बैठे काम चला जाता है? तब तो भाई, तुम बड़े भाग्यवान हो। कविता करते हो न? भाई! उसे छोड़ दो।

मातृ०—क्यों? वही तो मेरे भूखे का आहार है! कवित्व—वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भाव-पूर्ण संगीत गाया करता है। अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से, और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न!

मुद्गल—परन्तु हाथ का मुख से, पेट का अन्न से और आँखों

का निद्रा से भी सम्बन्ध होता है कि नहीं? इसको भी कभी सोचा-
विचारा है?

मातृगुप्त—संसार में क्या इतनी ही वस्तुएँ विचारने की हैं
पशु भी इनकी चिन्ता कर लेते होंगे।

मुद्गल—और मनुष्य पशु नहीं है, क्योंकि उसे बातें बनाना आता
है—अपनी मूर्खताओं को छिपाना, पापों पर बुद्धिमानी का आवरण
चढ़ाना आता है। और वाग्जाल की फाँस उसके पास है। अपनी पो
आवश्यकताओं में कृत्रिमता बढ़ा कर, सभ्य और पशु से कुछ ऊँच
होकर मनुष्य, पशु बनने से बच जाता है।

मातृगुप्त—होगा, तुम्हारा तात्पर्य क्या है?

मुद्गल—स्वप्न-मय जीवन छोड़ कर विचार-पूर्ण वास्तवि
स्थिति में आओ। ब्राह्मण-कुमार हो, इसीलिए दया आती है।

मातृगुप्त—क्या करूँ?

मुद्गल—मैं दो-चार दिन में अवन्ती जाने वाला हूँ, युवरा
भट्टारक के पास तुम्हें रखवा दूँगा। अच्छी वृत्ति मिलने लग जायगी
है स्वीकार?

मातृगुप्त—पर तुम्हें मेरे ऊपर इतनी दया क्यों?

मुद्गल—तुम्हारी बुद्धिमत्ता देखकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ
उसी दिन से मैं खोजता था। तुम जानते हो कि राजकृपा
अधिकारी होने के लिए समय की आवश्यकता है। बड़े लोगों
एक दृढ़ धारणा होती है कि, 'अभी ठहराने दो ऐसे बहुत आया-जाय
करते हैं।'

मातृगुप्त—तब तो बड़ी कृपा है। मैं अवश्य चलूँगा। काश्मीर
मंडल में हूणों का आतंक है, शास्त्र और संस्कृत-विद्या का कोई पूछ
पाता नहीं। म्लेच्छाक्रान्त देश छोड़कर राजधानी में चला आया था
अब आप ही मेरे पथ-प्रदर्शक हैं।

मुद्गल—अच्छा तो मैं जाता हूँ, शीघ्र ही मिलूँगा। तुम ...ने के लिए प्रस्तुत रहना।

(जाता है)

मातृगुप्त—काश्मीर! जन्मभूमि! जिसकी धूलि में लोट कर ...े रोना सीखा, जिसमें खेल-खेलकर शिक्षा प्राप्त की, जिसमें ...ीवन के परमाणु संगठित हुए थे, वही छूट गया! और बिखर ...ाया एक मनोहर स्वप्न, आह! वही जो मेरे इस जीवन-पथ ...ा पाथेय रहा!

प्रिय!

संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना।
'वह उच्छृंखलता थी अपनी'—कहकर मन मत बहलाना।
मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।
मेरे निश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी।
मैं व्याकुल परिरम्भ-मुकुल में बन्दी अलि-सा काँप रहा।
छलक उठा प्याला, लहरी में मेरे सुख को माप रहा।
सजग सुप्त सौंदर्य हुआ, हो चपल चलीं भौंहें मिलने।
लीन होगई लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने।
श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा।
तुमने अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के श्रम से, बहकाने से।
सुखी हुए फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने-से।
उस सुख का आलिंगन करने कभी भूलकर आ जाना।
मिलन-क्षितिज-तट मधु जलनिधि में मृदु हिलकोर उठा जाना।

कुमारदास—(प्रवेश करके) साधु!

मातृगुप्त—(अपनी भावना में तल्लीन जैसे किसी को न देख रहा हो) कुसुम के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था,

भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थीं, संध्या में शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था,—वहीं स्वप्न टूट गया।

कुमारदास—स्वप्न में न आया, सिंहल में और काश्मीर में क्या भेद है। तुम गौरवर्ण हो, लम्बे हो, खिंची हुई भौंहें हैं; तब होने पर भी सिंहलियों की घुँघराली लटें, उज्ज्वल श्याम शरीर, क्या स्वप्न में देखने की वस्तु नहीं?

मातृगुप्त—(कुमारदास का जैसे सहसा देखकर) पृथ्वी की समस्त ज्वाला को क्यों प्रकृति ने अपने बर्फ के अञ्चल से ढँक दिया है, उस हिमालय के—

कुमारदास—और बड़वानल को अनन्त जलराशि से जो सन्तुष्ट कर रहा है, उस रत्नाकर को—अच्छा जाने दो रत्नाकर नीचा है, गहरा है। हिमालय ऊँचा है, गर्व से सर उठाये है, तब तुम हो काश्मीर की। हाँ उस हिमालय के.

मातृगुप्त—उस हिमालय के ऊपर प्रभात-सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित प्रभा का, पीले पोखराज का-सा, एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली! उसका मंगल हो, हमारे प्रभु की शीतलता उसे सुरक्षित रखे। कल्पना की भाषा के पंख गिर जाते हैं, मौन-नीड़ में निवास करने दो। छेड़ो मत मित्र!

कुमारदास—तुम विद्वान् हो, सुकवि हो, इतना मोह?

मातृगुप्त—यदि यह विश्व इन्द्रजाल ही है, तो उस इन्द्रजाली की अनन्त इच्छा को पूर्ण करने का साधन—यह मधुर मोह चिरजीवी हो और अभिलाषा से मचलने वाले भूखे हृदय को आहार मिले।

कुमारदास—मित्र! तुम्हारी कोमल कल्पना, वाणी की वीणा में झनकार उत्पन्न करेगी। तुम सचेष्ट बनो, प्रतिभाशाली हो! तुम्हारा भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

मातृगुप्त—उसकी चिन्ता नहीं। दैन्य जीवन के प्रचण्ड आतप में सुन्दर स्नेह मेरी छाया बने! झुलसा हुआ जीवन धन्य हो जायगा।

कुमारदास—मित्र! इन थोड़े दिनों का परिचय मुझे आजीवन स्मरण रहेगा। अब तो मैं सिंहल जाता हूँ—देश की पुकार है। इसलिए मैं स्वप्नों का देश 'भव्य-भारत' छोड़ता हूँ। कविवर! इस क्षीण-परिचय कुमार धातुसेन को भूलना मत—कभी आना।

मातृगुप्त—सम्राट् कुमारगुप्त के सहचर, विनोदशील कुमार दास! तुम क्या कुमार धातुसेन हो!

कुमारदास—हाँ मित्र, लंका का युवराज। हमारा एक मित्र, एक बाल-सहचर, प्रख्यातकीर्ति, महाबोधि-विहार का श्रमण है। उस और गुप्त-साम्राज्य का वैभव देखने पर्यटक के रूप में भारत चला आया था। गौतम के पद-रज से पवित्र भूमि को खूब देखा और देखा दर्प से उद्धत गुप्त-साम्राज्य के तीसरे पहर का सूर्य। आर्य्य अभ्युत्थान का यह स्मरणीय युग है। मित्र, परिवर्तन उपस्थित है।

मातृगुप्त—सम्राट् कुमारगुप्त के साम्राज्य में परिवर्तन!

धातुसेन—सरल युवक! इस गतिशील जगत् में परिवर्तन पर

आश्चर्य ! परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन—प्रलय—हुआ ! परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शान्ति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है। समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथ से खेलता है। पुंल्लिंग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्क्षेपण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है।

मातृगुप्त—निस्सन्देह। अनन्तदेवी के इशारे पर कुमारगुप्त नाच रहे हैं। अद्भुत पहेली है !

धातुसेन—पहेली ! यह भी रहस्य ही है। पुरुष है—कुतूहल और प्रश्न, और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातों का समाधान। पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह प्रस्तुत है। उसके कुतूहल—उसके अभावों को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार ! अभागा मनुष्य सन्तुष्ट है—बच्चों के समान। पुरुष ने कहा—'क', स्त्री ने अर्थ लगा दिया—'कौआ', बस, वह रटने लगा। पलित-पिङ्गल वृद्ध सम्राट्, तरुणी की आकांक्षाओं के साधन बन रहे हैं। काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीघ्र ही अन्धकार होगा। परन्तु आशा का केन्द्र ध्रुवतारा एक युवराज 'स्कंद' है। निर्मम शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रंग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरम्भ होनेवाला है। तुम भी सम्भवतः उसके अभिनेताओं में से एक होगे। सावधान ! शिक्षा तुम्हारे लिए प्रस्तुत है। (प्रस्थान)

मातृगुप्त—विचक्षण उदार राजकुमार !

[प्रस्थान]

[अनन्तदेवी का सुसज्जित प्रकोष्ठ]

अनन्तदेवी—जया ! रात्रि का द्वितीय प्रहर तो व्यतीत हो रहा है, अभी भटार्क के आने का समय नहीं हुआ ?

जया—स्वामिनी ! आप बड़ा भयानक खेल खेल रही हैं।

अनन्त०—क्षुद्र हृदय—जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्त्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है।

जया—परन्तु राजकीय अन्तःपुर की मर्यादा बड़ी कठोर अथच फूल से कोमल है।

अनन्त०—अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरों चलूँगी, अपनी शिक्षा रहने दे।

(जया कपाट के समीप कान लगाती है, संकेत होता है, गुप्त द्वार खुलते ही भटार्क सामने उपस्थित होता है।)

भटार्क—महादेवी की जय हो !

अनन्त०—परिहास न करो मगध के महाबलाधिकृत ! देवकी के रहते किस साहस से तुम मुझे महादेवी कहते हो ?

भटार्क—हमारा हृदय कह रहा है, और आगे दिन साम्राज्य की जनता, प्रजा, सभी कहेगी।

अनन्त०—मुझे विश्वास नहीं होता।

भटार्क—महादेवी ! कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और अपमान मुझपर बरसाये गए हैं, वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। उन्हें निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे। चुभ-चुभकर वे मुझे सचेत करेंगे। मैं उन सबका अनुसरण करूँगा। बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचण्ड पराक्रमों से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत का

माननीय पद मिला है; मैं उस सम्मान की रक्षा करूँगा। महादेवी! आज मैंने अपने हृदय के मार्मिक रहस्य का अकस्मात् उद्घाटन कर दिया है। परन्तु वह भी जान-बूझकर—समझकर। मेरा हृदय शूलों के लौहफलक सहने के लिए है, क्षुद्र विष-वाक्य-बाण के लिए नहीं।

अनन्त०—तुम वीर हो भटार्क! यह तुम्हारे उपयुक्त ही है। देवकी का प्रभाव जिस क्षमता से बढ़ रहा है, उसे देखकर मुझे पुरगुप्त के जीवन में शंका हो रही है। महाबलाधिकृत, दुर्बल माता का हृदय उसके लिए आज ही से चिन्तित है, विकल है। सम्राट् की मति एक-सी नहीं रहती, वे अव्यवस्थित और चंचल हैं। इस अवस्था में वे विलास की अधिक मात्रा से केवल जीवन के अवशिष्ट सुखों की गुत्थियाँ सुलझाने में व्यस्त हैं।

भटार्क—मैं सब समझ रहा हूँ। पुष्यमित्रों के युद्ध में मुझे सेनापति की पदवी नहीं मिली, इसका कारण भी मैं जानता हूँ। मैं दूध पीनेवाला शिशु नहीं हूँ। और यह मुझे स्मरण है कि पृथ्वीसेन के विरोध करने पर भी आपकी कृपा से मुझे महाबलाधिकृत का पद मिला है। मैं कृतघ्न नहीं हूँ महादेवी! आप निश्चिन्त रहें।

अनन्त०—पुष्यमित्रों के युद्ध में भेजने के लिए मैंने भी कुछ समझकर उद्योग नहीं किया। भटार्क! क्रान्ति उपस्थित है, तुम्हारा यहाँ रहना आवश्यक है।

भटार्क—क्रान्ति के लक्षण इतना समीप उपस्थित होने के तो कोई लक्षण मुझे नहीं दिखाई पड़ता।

अनन्त०—राजधानी में आनन्द-विलास हो रहा है, और पारसीक मदिरा की धारा बह रही है, इनके स्थान पर रक्त की धारा बहेगी! आज तुम कालागुरु के गन्ध धूम से सन्तुष्ट हो रहे

हो, कल इन उच्च सौध-मन्दिरों में महापिशाची की विप्लव ज्वाला धधकेगी। उस चिरायँध की उत्कट गन्ध असह्य होगी। तब तुम भटार्क! उस आगामी खण्ड-प्रलय के लिए प्रस्तुत हो कि नहीं? (ऊपर देखती हुई) ऊँह, प्रपंचबुद्धि की कोई बात आज तक मिथ्या नहीं हुई।

भटार्क—कौन प्रपंचबुद्धि?

अनन्त०—सूचीभेद्य अन्धकार में छिपनेवाली रहस्यमयी नियति का—प्रज्वलित कठोर नियति का—नील आवरण उठाकर झाँकने वाला। उसकी आँखों में अभिचार का संकेत है, मुस्कराहट में विनाश की सूचना है, आँधियों से खेलता है, बातें करता है—बिजलियों से आलिंगन।

(प्रपंचबुद्धि का सहसा प्रवेश)

प्रपंचबुद्धि—स्मरण है माघ की अमावस्या?

(भटार्क और अनन्तदेवी सहमकर हाथ जोड़ते हैं)

अनन्त०—स्मरण है, भिक्षु-शिरोमणे! उसे मैं भूल सकती हूँ?

प्रपंच०—कौन, महाबलाधिकृत हैं हैं हैं हैं, तुम लोग सद्धर्म के अभिशाप की लीला देखोगे, हैं आँखों में इतना भय? क्यों, समझ लिया था कि इन मुण्डित-मस्तक जीर्ण कलेवर भिक्षु कंकालों में क्या धरा है? देखो—शव चिता में नृत्य करती हुई तारा का ताण्डव नृत्य, शून्य सर्वनाशकारिणी प्रकृति की मुण्ड मालाओं की कन्दुक-क्रीड़ा। अश्वमेध हो चुके, उनके फलस्वरूप महानरमेध का उपसंहार भी देखो (देखकर) है तुममें—तू करेगा? अच्छा महादेवी! अमावस्या के पहले पहर में, जब नील गगन से भयानक और उज्ज्वल उल्कापात होगा, महाशून्य की ओर देखना। जाता हूँ। सावधान!

(प्रस्थान)

पृथ्वीसेन—इसका परिणाम भयानक है। अन्तिम शय्या पर लेटे हुए सम्राट् की आत्मा को कष्ट पहुँचाना होगा।

महाप्रति०—[illegible] (कुछ देख कर) हाँ, शर्वनाग कहाँ गया?

नायक—उसे महाबलाधिकृत ने दूसरे स्थान पर भेजा है।

महाप्रति०—(क्रोध से) मूर्ख शर्वनाग!

(अन्तःपुर से आर्त्त क्रन्दन)

महादण्डनायक—(कान लगा कर सुनते हुए) क्या सब शेष हो गया। हम अवश्य भीतर जायँगे।

(तीनों तलवार खींच लेते हैं, नायक भी सामने आ जाता है, द्वार खोलकर पुरगुप्त और भटार्क का प्रवेश)

पृथ्वीसेन—भटार्क! यह सब क्या है?

भटार्क—(*तलवार खींचकर सिर से लगाता हुआ*) परम भट्टारक राजाधिराज पुरगुप्त की जय हो! माननीय कुमारामात्य, महादण्डनायक और महाप्रतिहार साम्राज्य के नियमानुसार, शस्त्र अर्पण करके परम भट्टारक का अभिवादन कीजिए।

(तीनों एक दूसरे का मुँह देखते हैं)

महाप्रतिहार—तब क्या, सम्राट् कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य अब संसार में नहीं हैं?

भटार्क—नहीं।

पृथ्वीसेन—परन्तु उत्तराधिकारी युवराज स्कंदगुप्त?

पुरगुप्त—चुप रहो। तुम लोगों को बैठ कर व्यवस्था नहीं देनी होगी। उत्तराधिकारी का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट् कर गये हैं।

पृथ्वीसेन—परन्तु प्रमाण?

पुरगुप्त—क्या तुम्हें प्रमाण देना होगा?

पृथ्वीसेन—अवश्य।

पुरगुप्त—महाबलाधिकृत ! इन विद्रोहियों को बन्दी करो !

(भटार्क आगे बढ़ता है)

पृथ्वीसेन—ठहरो भटार्क ! तुम्हारी विजय हुई, परन्तु एक बात

पुरगुप्त—आधी बात भी नहीं, बन्दी करो ।

पृथ्वीसेन—कुमार ! तुम्हारे दुर्बल और अत्याचारी हाथों में गुप्त-साम्राज्य का राजदण्ड टिकेगा नहीं। सम्भवतः तुम साम्राज्य पर विपत्ति का आवाहन करोगे । इसलिए कुमार ! इससे विरत हो जाओ ।

पुरगुप्त—महाबलाधिकृत ! क्यों विलम्ब करते हो !

भटार्क—आप लोग शस्त्र रख कर आज्ञा मानिए ।

महाप्रतिहार—आततायी ! यह स्वर्गीय आर्य्य चन्द्रगुप्त का दिया हुआ खड्ग तेरी आज्ञा से नहीं रक्खा जा सकता । उठा अपना शस्त्र, और अपनी रक्षा कर ।

पृथ्वीसेन—महाप्रतिहार ! सावधान ! क्या करते हो ! यह अन्तर्विद्रोह का समय नहीं है ! पश्चिम और उत्तर से काली घटाएँ उमड़ रही हैं, यह समय बल-नाश करने का नहीं है । आओ, हम लोग गुप्त-साम्राज्य के विधान अनुसार चरम प्रतिकार करें । बलिदान देना होगा । परन्तु भटार्क ! जिसे तुम खेल समझ कर हाथ में ले रहे हो, उस काल भुजंगी राष्ट्रनीति की—प्राण देकर भी—रक्षा करना । एक नहीं, सौ स्कंदगुप्त उस पर न्योछावर हैं ! आर्य्य-साम्राज्य की जय हो ! *(छुरा मार कर गिरता है, महाप्रतिहार और दण्डनायक भी वैसा ही करते हैं ।)*

पुरगुप्त—आपसे स्वयं विदा हो गये—अच्छा ही हुआ ।

भटार्क—परन्तु भूल हुई । ऐसे स्वामिभक्त सेवक !

पुरगुप्त—कुछ नहीं (*भीतर जाता है*)।

भटार्क—जो जायें, सब जायें, गुप्त-साम्राज्य के हीरे के उज्ज्वल-हृदय वीर, मुझसे भी शुद्ध रक्त, तब मेरी प्रतिहिंसा धधकी लिए बलि हो!

(नगर प्रान्त में पथ)

मुद्‌गल—*(प्रवेश करके)* किसी के सम्मान सहित निमंत्रण देने पर, पवित्रता से हाथ-पैर धोकर चौके पर बैठ जाना—एक दूसरी बात है, और भटकते, थकते, उकताते, कूदते, ठोकर खाते और लुढ़कते—हाथ-पैर की पूजा कराते हुए मार्ग चलना—एक भिन्न वस्तु है। कहाँ हम, और कहाँ यह दौड़, कुसुमपुरी से अवन्ती और अवन्ती से मूलस्थान ! इस बार की आज्ञा तो पालन करता हूँ, परन्तु, यदि तथापि, पुनश्च, फिर भी, कभी ऐसी आज्ञा मिली कि इस ब्राह्मण ने साष्टांग प्रणाम किया। अच्छा, इस वृक्ष की छाया में बैठ कर विचार कर लूँ कि सैकड़ों योजन लौट चलना अच्छा है कि थोड़ा और चल कर काम कर लेना !

(गठरी रख बैठ कर ऊँघने लगता है मातृगुप्त का प्रवेश)

मातृगुप्त—मुझे तो युवराज ने मूलस्थान की परिस्थिति सँभालने के लिए भेजा, देखता हूँ कि यह मुद्‌गल भी यहाँ आ पहुँचा ! चलें, इसे कुछ तंग करें, थोड़ा मनोविनोद ही सही।

(कपड़े से मुँह छिपाकर, गठरी खींचकर चलता है)

मुद्‌गल—*(उठकर)* ठहरो भाई, हमारे जैसे साधारण लोग अपनी गठरी आप ही ढोते हैं, तुम कष्ट न करो। *(मातृगुप्त चक्कर काटता है, मुद्‌गल पीछे-पीछे दौड़ता है।)*

मातृगुप्त—*(दूर खड़ा होकर)* अब आगे बढ़े कि तुम्हारी टाँग टूटी !

मुद्‌गल—अपनी गठरी बचाने में टाँग टूटना बुरा नहीं, अपशकुन नहीं। तुम यह न समझना कि हम दूर चलते-चलते थक गये हैं। तुम्हारा पीछा न छूटेगा। हम ब्राह्मण हैं, हमसे शास्त्रार्थ कर लो। डरवा न दिखाओ। हाँ, मेरी गठरी जो तुम लेते हो, इसमें कौन-सा न्याय है ? बोलो—

मातृगुप्त—न्याय ! तब तो तुम आत्मवाक्य अवश्य मानते होगे।

मुद्गल—अच्छा तो तर्कशास्त्र लगाना पड़ेगा !

मातृगुप्त—हाँ, तुमने गीता पढ़ी होगी !

मुद्गल—हाँ अवश्य, आपत्ति और गीता न पढ़े !

मातृगुप्त—उसमें तो लिखा है कि "न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे"—न हम हैं, न तुम हो, न यह वस्तु है, न तुम्हारी है, न हमारी,—फिर इस छोटी-सी गठरी के लिए इतना झगड़ा !

मुद्गल—ओहो ! तुम नहीं समझे।

मातृगुप्त—क्या !

मुद्गल—गीता सुनने के बाद क्या हुआ !

मातृगुप्त—महाभारत !

मुद्गल—तब महाशय, इस गठरी के लिए महाभारत का एक लघु संस्करण हो जाना आवश्यक है। गठरी में हाथ लगाया कि डण्डा लगा। (*डंडा तानता है*)

मातृगुप्त—मुद्गल, झगड़ा मत ठानो मैं ऐसा मूर्ख नहीं कि सूक्ष्म आग के लिए दूध और मधु से बना हुआ एक बूँद रस भी गिराऊँ।

(*गठरी देता है*)

मुद्गल—अरे कौन ! मातृगुप्त !

(*नेपथ्य में कोलाहल*)

मातृगुप्त—हाँ मुद्गल। इधर तो शक और हूणों की सम्मिलित सेना घोर आतंक फैला रही है, चारों ओर विप्लव का साम्राज्य है। निरीह भारतीयों की घोर दुर्दशा है।

मुद्गल—और मैं महादेवी का संदेश लेकर अवन्ती गया, वहाँ युवराज नहीं थे। बलाधिकृत पर्णदत्त की आज्ञा हुई कि महाराजपुत्र गोविन्द गुप्त को, जिस तरह हो, खोज निकालो। यहाँ तो विकट समस्या है। हम लोग क्या कर सकते हैं !

मातृगुप्त—कुछ नहीं, केवल भगवान् से प्रार्थना। साम्राज्य में कोई सुननेवाला नहीं, अकेले युवराज स्कंदगुप्त क्या करेंगे?

मुद्गल—परन्तु भाई, हम ईश्वर होते तो इन मनुष्यों की कोई प्रार्थना सुनते ही नहीं। इनको हर काम में हमारी आवश्यकता पड़ती है! मैं तो घबरा जाता, भला वह तो कुछ सुनते भी हैं।

मातृगुप्त—नहीं मुद्गल, निरी प्रजा का नाश देखा नहीं जाता। क्या इनकी उत्पत्ति का यही उद्देश्य था? क्या इनका जीवन केवल चींटियों के समान किसी की प्रतिहिंसा पूर्ण करने के लिए है? देखो वह दूर पर जलते हुए नागरिक और उन पर हूणों की नृशंसता! घोर!!

मुद्गल—अरे! बाप रे बाप!!

मातृगुप्त—सावधान! असहाय अवस्था में प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं, आओ हम लोग भगवान् से विनती करें—

(दोनों सम्मिलित स्वर से)

उतारोगे अब कब भू-भार।
बार बार क्यों कह रक्खा था लूँगा मैं अवतार।
उमड़ रहा इस भूतल पर दुख का पारावार।
बाड़व लेलिहान जिह्वा का करता है विस्तार।
प्रलय पयोधर बरस रहे हैं रक्त अश्रु की धार।
मानवता में राक्षसत्व का अब है पूर्ण प्रचार।
पड़ा नहीं कानों में अब तक क्या यह हाहाकार।
सावधान हो अब तुम जानो मैं तो चुका पुकार।

(हूण सैनिकों का प्रवेश—बन्दियों के साथ।)

हूण—चुप रह, क्या गाता है?

मुद्गल—ई ई, भीख माँगता हूँ, गीत गाता हूँ। आप भी कुछ दीजिएगा? *(दीन मुद्रा बनाता है)*

हूण—(धक्का देते हुए) चल, एक ओर खड़ा हो। हाँ जी, इन दुष्टों ने कुछ देना अभी स्वीकार नहीं किया, बड़े कुत्ते हैं!

नागरिक—हम निरीह प्रजा हैं। हम लोगों के पास क्या रह गया जो आप लोगों को दें। सैनिकों ने तो पहले ही लूट लिया है।

हूण-सेनापति—तुम लोग बातें बनाना खूब जानते हो। अपना छिपा हुआ धन देकर प्राण बचाना हो तो शीघ्रता करो, नहीं तो गरम किये हुए लोहे प्रस्तुत हैं—कोड़े और तेल में तर कपड़े भी। उस कष्ट का स्मरण करो!

नागरिक—प्राण तो तुम्हारे हाथों में है, जब चाहो ले लो।

हूण-सेनापति—(कोड़े से मारता हुआ) उसे तो ले ही लेंगे, पर, धन कहाँ है?

नागरिक—नहीं है निर्दय! हत्यारे! कह दिया कि नहीं है!

हूण-सेनापति—(सैनिकों से) इनके बालकों को तेल से भीगा हुआ कपड़ा डाल कर जलाओ और स्त्रियों को गरम लोहे से दागो।

स्त्रियाँ—हे नाथ!

हमारे निर्बलों के बल कहाँ हो?
हमारे दीन के सम्बल कहाँ हो?

पुरुष—नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या?
सुना केवल यहाँ हो या वहाँ हो।

स्त्रियाँ—पुकारा जब किसी ने तब सुना था।
भला विश्वास यह हमको कहाँ हो।

(स्त्रियों को पकड़कर हूण खींचते हैं)

मातृगुप्त—हे प्रभु!
हमें विश्वास दो अपना बना लो।
सदा स्वच्छन्द हो—चाहे जहाँ हो।

इन निरीहों के लिए प्राण उत्सर्ग करना धर्म है। कायरो! स्त्रियों पर यह अत्याचार!!

(तलवार से बंधन काटता है। लपकते हुए एक संन्यासी का प्रवेश।)

संन्यासी—साधु! वीर! सम्हलकर खड़े हो जाओ—भगवान् पर विश्वास करके खड़े हो।

मुद्गल—(पहचानता हुआ) जय हो, महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय हो!

(सब उत्साहित होकर भिड़ जाते हैं, हूण-सैनिक भागते हैं।)

गोविन्द०—अच्छा मुद्गल! तुम यहाँ कैसे? और युवक! तुम कौन हो?

मातृगुप्त—युवराज स्कंदगुप्त का अनुचर।

मुद्गल—वीर-पुंगव! इतने दिनों पर दर्शन भी हुआ तो इस वेश में!

गोविन्द०—मुद्गल! क्या कहूँ स्कंद कहाँ है?

मातृगुप्त—उज्जयिनी में।

गोविन्द०—अच्छा है, सुरक्षित है। चलो, दुर्ग में हमारी सेना पहुँच चुकी है, वहीं विश्राम करो। यहाँ का प्रबन्ध करके हमको शीघ्र आवश्यक कार्य से मालवा जाना है। अब हूणों के आतंक का डर नहीं।

सब—जय हो राजकुमार गोविन्दगुप्त की!

गोविन्द०—पुष्यमित्रों के युद्ध का क्या परिणाम हुआ?

मातृगुप्त—विजय हुई।

गोविन्द०—और मालवा का?

मुद्गल—युवराज थोड़ी सेना लेकर बन्धुवर्मा की सहायता के लिए गये हैं।

गोविन्द०—(ऊपर देख कर) वीरपुत्र है। स्कन्द! आकाश के

देवता और पृथ्वी की लक्ष्मी तुम्हारी रक्षा करें। आर्य्य-साम्राज्य के तुम्हीं एक-मात्र भरोसा हो।

मुद्गल—जय महाराज-पुत्र! बड़ी भूख लगी है। प्राण बचन — भूख का धावा हो गया शीघ्र रक्षा कीजिए।

गोविन्द०—हाँ-हाँ, सब लोग चलो।

[सब जाते हैं]

[अवन्ती का दुर्ग]

(देवसेना, विजया, जयमाला)

विजया—विजय किसकी होगी, कौन जानता है।

जयमाला—तुमको केवल अपने धन की रक्षा का इतना ध्यान है।

देवसेना—और देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का कुछ नहीं।

विजया—(संकुचित होकर) नहीं, मेरा अभिप्राय यह नहीं था।

जयमाला—परन्तु एक उपाय है।

विजया—वह क्या ?

जयमाला—रक्षा का निश्चित उपाय।

देवसेना—तुम्हारे पिता ने तो उस समय नहीं माना, न सुना, नहीं तो आज इस भय का अवसर ही न आता।

जयमाला—तुम्हारी अपार धन राशि में से एक क्षुद्र अंश यदि इन धन-लोलुप शृगालों को दे दिया जाता तो

विजया—किन्तु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।

जयमाला—ठहरो, कोई आ रहा है।

(बन्धुवर्मा का प्रवेश)

बन्धुवर्मा—प्रिये! अभी तक युवराज का कोई सन्देश नहीं मिला। सम्भवतः शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकूँगा।

जयमाला—नाथ! तब क्या मुझे स्कन्दगुप्त का अभिनय करना होगा? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था? जाओ प्रभु! सेना लेकर सिंह-विक्रम से सेना पर टूट पड़ो! दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूँ।

विजया—महाराज ! यह केवल वाचालता है । दुर्ग-रक्षा का भार सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए ।

बन्धुवर्मा—घबराओ मत श्रेष्ठि-कन्ये !

जयमाला—स्वर्ण-रत्न की चमक देखनेवाली आँखें बिजली-सी तलवारों के तेज को कब तक सह सकती हैं । श्रेष्ठि-कन्ये ! हम क्षत्राणी हैं, चिरसंगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर-स्नेह है ।

बन्धुवर्मा—प्रिये ! शरणागत और विपन्न की मर्य्यादा रखनी चाहिए । अच्छा, दुर्ग का तो नहीं, अन्तःपुर का भार तुम्हारे ऊपर है ।

देवसेना—भैया, आप निश्चिन्त रहिए ।

बन्धुवर्मा—भीम दुर्ग का निरीक्षण करेगा ; मैं जाता हूँ ।

(जाता है)

विजया—भयानक युद्ध समीप ही जान पड़ता है, क्यों राजकुमारी !

देवसेना—तुम वीणा ले लो तो मैं गाऊँ ।

विजया—हँसी न करो राजकुमारी !

जयमाला—युद्ध क्या है !

विजया—युद्ध और गान !

जयमाला—युद्ध क्या गान नहीं है ? रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का ताण्डवनृत्य, और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव-संगीत की सृष्टि होती है । जीवन के अन्तिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आँखों से देखना, जीवन-रहस्य के चरम सौन्दर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर हृदय को होता है । ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरन्तर संगीत है । उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो । अत्याचार के श्मशान में ही मंगल का, शिव का, सत्य सुन्दर संगीत का समारम्भ होता है ।

देवसेना—तो भाभी, मैं तो गाती हूँ। एक बार गा लूँ, हमारा प्रिय गान फिर गाने को मिले या नहीं।

जयमाला—तो गाओ न।

विजया—रानी! तुम लोग आग की चिनगारियाँ हो, या स्त्री हो! देवी! ज्वालामुखी की सुन्दर लट के समान तुम लोग

जयमाला—सुनो, देवसेना गा रही है—

(गाना)

भरा नैनों में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप।
जल-थल मारुत व्योम में जो छाया है सब ओर।
खोज-खोजकर खो गई मैं पागल प्रेम विभोर।
भाँग से भरा हुआ यह कूप।
भरा नैनों में मन में रूप।
धमनी की तन्त्री बजी तू रहा लगाये ध्यान।
बलिहारी मैं, कौन तू है मेरा जीवन प्रान।
खेलता जैसे छाया धूप।
भरा नैनों में मन में रूप॥

(सहसा भीमवर्मा का प्रवेश)

भीम—भाभी, दुर्ग का द्वार टूट चुका है। हम अन्तःपुर के बाहरी द्वार पर हैं। अब तुम लोग प्रस्तुत रहना।

जयमाला—उनका क्या समाचार है?

भीम—अभी कुछ नहीं मिला। गिरिव्रज में उन्होंने शत्रुओं के मार्ग को रोका था, परन्तु दूसरी शत्रु-सेना गुप्त मार्ग से आ गई। मैं जाता हूँ, सावधान!

(जाता है)

(नेपथ्य में कोलाहल, भयानक शब्द)

विजया—महारानी! किसी सुरक्षित स्थान में निकल चलिए।

जयमाला—(*छुरी निकाल कर*) रक्षा करनेवाली तो पास है, डर क्या, क्यों देवसेना?

देवसेना—भाभी! श्रेष्ठि-कन्या के पास नहीं है, उन्हें भी दो।

विजया—न न न, मैं लेकर क्या करूँगी, भयानक!

देवसेना—इतनी सुन्दर वस्तु क्या कलेजे में रख लेने के योग्य नहीं है?

विजया—(*धड़ाके का शब्द सुनकर*) ओह! तुम लोग बड़ी निर्दय हो!

जयमाला—जाओ, एक ओर छिपकर खड़ी हो जाओ!

(*रक्त से लथपथ भीम का प्रवेश*)

भीम—भाभी! रक्षा न हो सकी, अब तो मैं जाता हूँ। वीरों के वरणीय सम्मान को अवश्य प्राप्त करूँगा। परन्तु

जयमाला—हम लोगों की चिन्ता न करो। वीर! स्त्रियों की, ब्राह्मणों की पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण विसर्जन करना, क्षत्रिय का धर्म है। एक प्रलय की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो। भैरव के शृंगीनाद के समान प्रबल हुंकार से शत्रु-हृदय कँपा दो! वीर! बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भीषण सूर्य के समान!—आगे, पीछे सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता रहे!

(*भीम का प्रस्थान, द्वार का टूटना, विजयी शत्रु-सेनापति का प्रवेश, भीम का आकर रुकना, गिरते-गिरते भीम का जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध। सहसा स्कन्दगुप्त का सैनिकों के साथ प्रवेश।*)

'युवराज स्कन्दगुप्त की जय!'

(*शत्रु और हूण स्तम्भित होते हैं*)

स्कंद०—ठहरो देवियो! स्कन्द के जीवित रहते स्त्रियों को शस्त्र नहीं चलाना पड़ेगा।

(युद्ध, सब पराजित और बन्दी होते हैं)

विजया—(झाँककर) आहा! कैसी भयानक और सुन्दर मूर्ति है!

स्कंद०—(विजया को देखकर) यह—यह कौन!

[पटाक्षेप]

द्वितीय अंक

[मालव में शिप्रा-तट-कुञ्ज]

देवसेना—इसी पृथ्वी पर है और अवश्य है।

विजया—कहाँ राजकुमारी! संसार में छल, प्रवञ्चना और हत्याओं को देखकर कभी-कभी मान ही लेना पड़ता है कि यह जगत् ही नरक है। कृतघ्नता और पाखण्ड का साम्राज्य यहीं है। छीना-झपटी, नोच-खसोट, मुँह में से आधी रोटी छीन कर भागने वाले विकट जीव यहीं तो हैं! श्मशान के कुत्तों से भी बढ़कर मनुष्यों की पतित दशा है।

देवसेना—पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप। विजया! आकाश के सुन्दर नक्षत्र आँखों से केवल देखे ही जाते हैं; वे कुसुम कोमल हैं कि वज्र-कठोर—कौन कह सकता है। आकाश में खेलती हुई कोकिल की करुणामयी तान का कोई रूप है या नहीं, उसे देख नहीं पाते। शतदल और पारिजात का सौरभ बिठ रखने की वस्तु नहीं। परन्तु संसार में ही नक्षत्र से उज्ज्वल—किन्तु कोमल—स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी की सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान क लिया जा सकता है।

विजया—होगी, परन्तु मैंने नहीं देखा।

देवसेना—तुमने सचमुच कोई ऐसा व्यक्ति नहीं देखा?

विजया—नहीं तो—

देवसेना—समझ कर कहो।

विजया—हाँ, समझ लिया है।

देवसेना—क्या तुम्हारा हृदय कहीं पराजित नहीं हुआ? विजया! विचार कर कहो, किसी भी असाधारण महत्व से तुम्हारा उद्दंड हृदय अभिभूत नहीं हुआ? यदि हुआ है तो वही स्वर्ग है। जहाँ हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है, वही स्वर्ग है। वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है, और वह इसी लोक में मिलता है। जिसे नहीं मिला, वह इस संसार में अभागा है।

विजया—तो राजकुमारी, मैं वह हूँ?

देवसेना—हाँ, हाँ, तुम्हें कहना ही होगा।

विजया—मुझे तो आज तक किसी को देख कर हारना नहीं पड़ा। हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परन्तु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव भी कह कर टाल दे सकती हूँ।

देवसेना—नहीं विजया! वह टालने से, बहाना देने से, नहीं हो सकता। तुम भाग्यवती हो, देखो यदि वह स्वर्ग तुम्हारे हाथ लगे। (सामने देखकर) अरे लो! वह युवराज आ रहे हैं। हम लोग हट चलें।

(दोनों जाती हैं, स्कंदगुप्त का प्रवेश, पीछे चक्रपालित)

स्कंद०—विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा देगा? कभी नहीं। वीरों का भी क्या ही व्यवसाय है, क्या ही उन्मत्त भावना है। चक्रपालित! संसार में जो सब से महान् है, वह क्या है? त्याग। त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है। प्राणों का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य है।

चक्र०—युवराज! सम्पूर्ण संसार कर्मण्य वीरों की चित्र शाला है। वीरत्व एक स्वावलम्बी गुण है। प्राणियों का विकास

सम्भवतः इसी विचार के वर्जित होने से हुआ है। जीवन में वही तो विजयी होता है, जो दिन-रात 'युद्धस्वविगतज्वरः' का शंखनाद सुना करता है।

स्कन्द०—चक्र! ऐसा जीवन तो विडम्बना है, जिसके लिए दिन-रात लड़ना पड़े! आकाश में जब शीतल शुभ्र शरद-शशि का विलास हो, तब भी दाँत-पर दाँत रखे, मुट्ठियों को बाँधे हुए, लाल आँखों से एक दूसरे को घूरा करें! वसन्त के मनोहर प्रभात में, निभृत कगारों में, चुपचाप बहने वाली सरिताओं का स्रोत गरम रक्त बहाकर लाल कर दिया जाय! नहीं, नहीं चक्र! मेरी समझ में मानव-जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और भी निगूढ़ रहस्य है, चाहे उसे मैं स्वयं न जान सका हूँ।

चक्र०—सावधान युवराज! प्रत्येक जीवन में कोई बड़ा काम करने के पहले ऐसे ही दुर्बल विचार आते हैं; वह तुच्छ प्राणों का मोह है। अपने को झगड़ों से अलग रखने के लिए अपनी रक्षा के लिए, यह उत्तम छुद्र प्रकट होता है। अयोध्या चलने के लिए आपने कब का समय निश्चित किया है? राजसिंहासन कब तक सूना रहेगा? पुष्यमित्रों और शकों के युद्ध समाप्त हो चुके हैं।

स्कंद०—तुम मुझे उत्तेजित कर रहे हो।

चक्र०—हाँ युवराज! मुझे यह अधिकार है।

स्कंद०—नहीं चक्र! अश्वमेध-पराक्रम स्वर्गीय सम्राट् कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है। मैं झगड़ा करना नहीं चाहता, मुझे सिंहासन न चाहिए। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है। मुझे...

चक्र०—यह नहीं होगा। यदि राज्यशक्ति के केन्द्र में ही अन्याय होगा, तब तो समग्र राष्ट्र अन्यायों का क्रीड़ा-स्थल हो

वश्य। आपको सबके अधिकारों की रक्षा के लिए अपना अधि
कार सुरक्षित करना ही पड़ेगा।

(चर का आना, कुछ संकेत करना, दोनों का प्रस्थान, देवसेना और
विजया का प्रवेश)

विजया—यह क्या राजकुमारी! युवराज तो उदासीन हैं।

देवसेना—हाँ विजया! युवराज की मानसिक अवस्था कुछ
बदली हुई है।

विजया—दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है।

देवसेना—यही तुम्हारा सोचा हुआ युवराज के महत्त्व का
परदा तो नहीं हट रहा है? क्यों विजया! वैभव का अभाव तुम्हें
खटकने तो नहीं लगा?

विजया—राजकुमारी! तुम तो निर्दय व्यंग्यबाणों का प्रयोग कर
रही हो।

देवसेना—नहीं विजया, बात ऐसी नहीं है। धनवानों के हाथ में
प ही एक है। वह विद्या, सौन्दर्य, बल, पवित्रता, और तो क्या,
दय भी उसी से मापते हैं। वह माप है—उनका ऐश्वर्य।

विजया—परन्तु राजकुमारी! इस उदार दृष्टि से तो चक्र
पालित क्या पुरुष नहीं है? है अवश्य। वीर हृदय है, प्रशस्त वक्ष है,
उदार मुखमंडल है।

देवसेना—और सबसे अच्छी एक बात है। तुम समझती
कि वह महत्त्वाकांक्षी है। उसे तुम अपने वैभव से क्रय कर
ती हो क्यों? भाई, तुमको लेना है, तुम स्वयं समझ लो,
। दलाली नहीं चलेगी।

विजया—जाओ राजकुमारी।

देवसेना—एक गाना सुनोगी?

विजया—महारानी खोजती होंगी, अब चलना चाहिए।

देवसेना—तब तुम अभी प्रेम करने का, मनुष्य फँसाने का, ठीक सिद्धान्त नहीं जानती हो।

विजया—क्या?

देवसेना—नये ढंग के आभूषण, सुन्दर वसन, भरा हुआ यौवन—यह सब तो चाहिए ही, परन्तु एक वस्तु और चाहिए। पुरुष को वशीभूत करने के पहले चाहिए, धोखे की टट्टी। मेरा तात्पर्य है—एक वेदना अनुभव करने का, एक विह्वलता का, अभिनय उसके मुख पर रहे—जिससे कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएँ मुख पर पड़ें, और मूर्ख मनुष्य उन्हीं को लेने के लिए व्याकुल हो जाय। और फिर दो बूँद गरम-गरम आँसू, और इसके बाद एक तान बागेश्वरी की—करुण कोमल तान। बिना इसके सब रंग फीका—

विजया—उस समय भी गान?

देवसेना—बिना गान के कोई कार्य नहीं। विश्व के प्रत्येक कम्प में एक ताल है। आहा! तुमने सुना नहीं? दुर्भाग्य तुम्हारा। सुनोगी?

विजया—राजकुमारी! गाने का भी रोग होता है क्या? हाथ को ऊँचे-नीचे हिलाना, मुँह बनाकर एक भाव प्रकट करना, फिर सिर को इस ओर से हिला देना जैसे उस तान से शून्य में एक हिलोर उठ गई!

देवसेना—विजया! प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रक्खा है, इसी से तो उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता। पाण्डित्य के मारे जब देखो, जहाँ देखो, बेताल-बेसुरा बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह'

प्रत्यक्ष 'शतदल' में, काकली में, रागिनी है।

विजया—राजकुमारी, क्या कर रही हो?

देवसेना—तुमने एकांत टीले पर, सबसे अलग, शरद के सुन्दर प्रभात में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ, पारिजात-वृक्ष देखा है?

विजया—नहीं तो।

देवसेना—उसका स्वर अन्य वृक्षों से नहीं मिलता। वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण-पवन में कम्प उत्पन्न करता है, कलियों को चटकाकर ताली बजाकर, झूम-झूमकर नाचता है। अपना नृत्य, अपना संगीत, वह स्वयं देखता है—सुनता है। उसके अन्तर में जीवन शक्ति वीणा बजाती है। वह बड़े कोमल स्वर में गाता है—

घने प्रेम-तरु तले,
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले।
छाया है विश्वास की श्रद्धा-सरिता-कूल,
सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल,
यहाँ कौन जो छले!
फूल चू पड़े बात से भरे हृदय का घाव,
मन की कथा व्यथा-भरी बैठो सुनते जाव,
कहाँ जा रहे चले।
पी लो छबि-रस-माधुरी सींचो जीवन-बेल,
जी लो सुख से आयु-भर यह माया का खेल,
मिलो स्नेह से गले।
घने प्रेम-तरु-तले।

(बन्धुवर्मा का प्रवेश)

देवसेना—(संकुचित होती-सी) अरे भैया—

बन्धुवर्मा—देवसेना, तुझे गाने का भी विचित्र रोग है।

देवसेना—रोग तो एक-न-एक सभी को लगा है, परन्तु यह रोग अच्छा है, इससे कितने रोग अच्छे किये जा सकते हैं।

बन्धुवर्मा—पगली! जा देख, युवराज आ रहे हैं, कुसुमपुर से कोई समाचार आया है।

देवसेना—तब उन्हें जाना आवश्यक होगा। भाभी बुलाती हैं क्या

बन्धुवर्मा—हाँ, उनकी विदाई करनी होगी। संभवत: सिंहासन पर बैठने का—राज्याभिषेक का प्रकरण होगा।

देवसेना—क्या आप को ठीक नहीं मालूम?

बन्धुवर्मा—नहीं तो, मुझसे कुछ कहा नहीं; परन्तु भौंहों के नीचे एक गहरी छाया है, बात कुछ समझ में नहीं आती।

देवसेना—भैया, तुम लोगों के पास बातें छिपा रखने का एक भारी रहस्य है। जी खोलकर कह देने में पुरुषों की मर्यादा घटती है। जब तुम्हारा हृदय भीतर से क्रन्दन करता है, तब तुम लोग एक मुस्कराहट से उसे टाल देते हो—यह बड़ी प्रवञ्चना है।

बन्धुवर्मा—(हँसकर) अच्छा जा उधर, उपदेश मत दे।

(विजया और देवसेना जाती हैं)

बन्धुवर्मा—उदार-वीर-हृदय, देवोपम-सौन्दर्य, इस आर्यावर्त का एकमात्र आशा-स्थल इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र लिपियों से अंकित है! अंतःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवन-पूर्ण ज्योति है। भविष्य के साथ इसका युद्ध होगा, देखें कौन विजयी होता है। परन्तु मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से इस वीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है।

पर्हूँ—

(जाता है)

(मठ में प्रपंचबुद्धि, भटार्क और शर्वनाग)

प्रपंच०—बाहर देख लो, कोई है तो नहीं।

(शर्व जाकर लौट आता है)

शर्व०—कोई नहीं, परन्तु आप इतना चौंकते क्यों हैं? मैं तो कभी स चिन्ता नहीं करता कि कौन आया है या आवेगा।

प्रपंच०—तुम नहीं जानते।

शर्व०—नहीं श्रमण! खड्ग हाथ में लिये प्रत्येक भविष्यत् प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुछ होगा, वही निबटा लेगा। इतने र की, घबराहट की, आवश्यकता नहीं। विश्वास करना और लेना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जावेंगी।

प्रपंच०—प्रत्येक भित्ति के किवाड़ों के कान होते हैं, समझ लेना चाहिए, देख लेना चाहिए।

शर्व०—अच्छी बात है, कहिए।

भटार्क—तुम पहले चुप तो रहो।

(शर्व चुप रहने की मुद्रा बनाता है)

प्रपंच०—धर्म की रक्षा करने के लिए प्रत्येक उपाय से काम लेना ।

शर्व०—भिक्षु-शिरोमणे! वह कौन-सा धर्म है, जिसकी हत्या हो ती है?

प्रपंच०—यही हत्या रोकना, अहिंसा, गौतम का धर्म है। य की वाणियों का रोकना, करुणा और सहानुभूति की प्रेरणा से कल्याण का प्रचार करना। हाँ, अवसर ऐसा है कि हम वह काम भी करें जिससे तुम चौंक उठो, परन्तु नहीं, यह तो तुम्हें करना ही होगा।

भटार्क—क्या?

प्रपंच०—महादेवी देवकी के कारण राजधानी में विद्रोह की संभावना है, उन्हें संसार से हटाना होगा।

शर्व०—ठीक है, तभी आप चौंकते हैं, और तभी धर्म की रक्षा होगी। हत्या के द्वारा हत्या का निषेध कर लेंगे—क्यों ?

भटार्क—ठहरो शर्व ! परन्तु महास्थविर ! क्या इसकी अत्यन्त आवश्यकता है ?

प्रपंच०—नितांत।

शर्व०—बिना इसके काम ही न चलेगा, धर्म ही न प्रचारित होगा !

प्रपंच०—और यह काम शर्व को करना होगा।

शर्व०—(चौंककर) मुझे ! मैं कदापि नहीं

भटार्क—भीरुता न करो शर्व ! भविष्यत् के सुखों से इसकी तुलना करो।

शर्व०—नाप-तौल मैं नहीं जानता मुझे शत्रु दिखला दो। मैं भूखे भेड़िये की भाँति उसका रक्तपान कर लूँगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊँ, परन्तु निरीह हत्या—यह मुझसे नहीं ...

भटार्क—मेरी आज्ञा।

शर्व०—तुम सैनिक हो, उठाओ तलवार। चलो, दो सहस्र शत्रुओं पर हम दो मनुष्य आक्रमण करें। देखें मरने से कौन भागता है। कायरता ! अबला महादेवी की हत्या ! किस प्रलोभन में तुम पिशाच बन रहे हो ?

भटार्क—सावधान शर्व ! इस चक्र से हम नहीं निकल सकते। यह तो करो या मरो। मैं वाचालता का स्वाँग नहीं ले सकता, मुझे यह नहीं भाता। मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा—लूँगा। साथ दोगे, तुम भी लाभ में रहोगे।

शर्व०—नहीं भटार्क ! लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम

करता, तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था। मुझसे यह नहीं होने का।

प्रपंच०—ठहरो मयार्क। मुझे पूछने दो। क्यों शर्व! तुमने जो यह अस्वीकार किया है वह क्यों? पाप समझकर?

शर्व०—अवश्य।

प्रपंच०—तुम किसी कर्म को पाप नहीं कह सकते, वह अपने नग्न रूप में पूर्ण है, पवित्र है। संसार ही युद्ध क्षेत्र है, इसमें पराजित होकर शस्त्र अर्पण करके जीने से क्या लाभ? तुम युद्ध में हत्या करना धर्म समझते हो, परन्तु दूसर स्थल पर अधर्म?

शर्व०—हाँ।

प्रपंच०—मार डालना, प्राणी का अन्त कर देना दोनों स्थलों में एकसा है, केवल देश और काल का भेद है। यही न?

शर्व०—हाँ ऐसा ही तो।

प्रपंच०—तब तुम स्थान और समय की कसौटी पर कर्म को परखते हो, इसी से कर्म अच्छे और बुरे होने की जाँच करते हो।

शर्व०—दूसरा उपाय क्या?

प्रपंच०—है क्यों नहीं। हम कर्म की जाँच परिणाम से करते हैं, और यही ठहरा तुम्हारे स्थान और समय वाली जाँच का होगा।

शर्व०—परन्तु जिसका भावी परिणाम को अभी तुम देख न सके, उसके बल पर तुम कैसे पूर्ण न्याय कर सकते हो?

प्रपंच०—आशा पर, जो सृष्टि का रहस्य है। आओ इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण दें। (*मदिरा का पात्र भरता है, स्वयं पीकर उस को पिलाता है, बार बार ऐसा करता है।*)

प्रपंच०—क्यों, कैसी कड़वी थी?

शर्व०—ऊँह, हृदय तक लकीर खिंच गई!

भटार्क—परन्तु अब तो एक आनन्द का स्रोत हृदय में बहने लगा है।

शर्व०—मैं जाऊँ। (*उठना चाहता है*)

प्रपंच०—ठहरो, मेरे साथ।

(*उठकर दोनों चलते हैं, अकस्मात् लड़खड़ाकर प्रपंचबुद्धि गिर पड़ता है चोट लगती है।*)

भटार्क—अरे रे! (*सम्हलकर उठाता है*)

प्रपंच०—कुछ चिन्ता नहीं।

शर्व०—बड़ी चोट आई।

प्रपंच०—परन्तु परिणाम अच्छा हुआ। तुम लोगों पर भारी विपत्ति आने वाली थी।

भटार्क—वह टल गई क्या! (*आश्चर्य से देखता है*)

शर्व०—क्यों सेनापति! टल गई!

प्रपंच०—उस विपत्ति का निवारण करने के लिए ही मैंने यह कष्ट सहा। मैं तुम लोगों के भूत, भविष्यत् और वर्तमान का नियामक, रक्षक और द्रष्टा हूँ। जाओ, अब तुम लोग निर्भय हो।

भटार्क—धन्य गुरुदेव!

शर्व०—आश्चर्य!

भटार्क—शंका न करो, श्रद्धा करो, श्रद्धा का फल मिलेगा। शर्व! अब भी तुम विश्वास नहीं करते?

शर्व०—करता हूँ। जो आज्ञा होगी वही करूँगा।

प्रपंच०—अच्छी बात है, चलो।

(*सब जाते हैं। धातुसेन का प्रवेश*)

धातुसेन—मैं अभी यहीं रह गया सिंहल नहीं गया। इस रहस्यपूर्ण अभिनय को देखने की इच्छा बलवती हुई, परन्तु मुद्गल तो अभी नहीं आया, यहीं तो आने को था। (*देखता है*) लो, वह आ गया।

मुद्गल—क्यों भैया, तुम्हीं धातुसेन हो?

धातु०—(हँस कर) पहचानते नहीं?

मुद्गल—किसी की धातु पहचानना बड़ा असाधारण काम है। तुम किस धातु के हो?

धातु०—भाई, सोना अत्यन्त घन होता है, बहुत शीघ्र गरम होता है, और हवा लग जाने से शीतल हो जाता है। मूल्य भी बहुत लगता है। इतने पर भी सिर पर बोझ-सा रहता है। मैं सोना नहीं हूँ, क्योंकि उसकी रक्षा के लिए भी एक धातु की आवश्यकता होती है, 'लोहा'।

मुद्गल—तब तुम लोहे के हो?

धातु०—लोहा बड़ा कठोर होता है। कभी-कभी वह लोहे को भी काट डालता है। ऊँहूँ, भाई! मैं तो मिट्टी हूँ—मिट्टी, जिसमें से सब निकलते हैं। मेरी समझ में तो मेरे शरीर की धातु मिट्टी है, जो किसी के लोभ की सामग्री नहीं, और वास्तव में उसी के लिए सब धातु अस्त्र बनकर चलते हैं, लड़ते हैं, जलते हैं, टूटते हैं, फिर मिट्टी होते हैं। इसलिए मुझे मिट्टी समझो—धूल समझो। परन्तु यह तो बताओ, महादेवी की मुक्ति के लिए क्या उपाय सोचा?

मुद्गल—मुक्ति का उपाय! अरे ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में, बनियों की दिवाले की चोट से गिर जाने में, और शूद्रों की—हम तीनों की ठोकरों से मुक्ति-ही-मुक्ति है। महादेवी तो क्षत्राणी हैं, संभवत. उनकी मुक्ति शस्त्र से होगी।

धातु०—तुमने ठीक सोचा। आज अर्द्धरात्रि में कारागार में।

मुद्गल—कुछ चिन्ता नहीं, युवराज आ गये हैं।

धातु०—मैं भी प्रस्तुत रहूँगा।

(दोनों जाते हैं)

[पट-परिवर्तन]

[देवकी के राजमन्दिर का बाहरी भाग]

(मदिरोन्मत्त शर्वनाग का प्रवेश)

शर्व०—अर्थ, कामिनी, कञ्चन—वर्णमाला के पहले अक्षर! करना होगा, इन्हीं के लिए कर्म करना होगा। मनुष्य को यदि इन वर्गों की चाट नहीं तो कर्म क्यों करे? कर्म में एक 'कु' और जोड़ दें। लो, अच्छी वर्णमैत्री होगी!

अर्थ! और प्याला! *(प्याले में मदिरा उँडेलता है)* लाल—यह क्या रक्त? आह! कैसी मोहक कमनीयता है। लाल मदिरा लाल नेत्रों से लाल-लाल रक्त देखना चाहती है। किसका? एक प्राणी का, जिसके कोमल मांस में रक्त मिला हो। अरे रे, नहीं, दुर्बल नारी! ऊँह, यह तेरी दुर्बलता है। चल अपना काम देख, देख—सामने सोने का संसार खड़ा है!

(रामा का प्रवेश)

रामा—पामर! सोने की लंका राख हो गई।

शर्व०—उसमें मदिरा न रही होगी सुन्दरी!

रामा—मदिरा का समुद्र उफन कर बह रहा था—मदिरा-समुद्र के तट पर ही लंका बसी थी!

शर्व०—तब उसमें तुम-जैसी कोई कामिनी न होगी। तुम कौन हो—स्वर्ग की अप्सरा या स्वप्न की पुतली?

रामा—स्त्री को देखते ही विलासित हुए, आँखें फाड़ कर देखते हैं—जैसे खा जायँगे। मैं कोई हूँ!

शर्व०—सुन्दरी! यह तुम्हारा ही दोष है। तुम लोगों का वेश विन्यास, आँखों की लुका-चोरी, अंगों का सिमटाना, चलने में एक क्रीड़ा, एक कौतूहल, पुकार कर—टोक कर कहते हैं—'हमें देखो!' हम क्या करें, देखते ही बनता है!

रामा—दुष्ट व मद्यप ! तू अपनी स्त्री को नहीं पहचानता है, पर स्त्री समझ कर उसे पकड़ता है !

शम्ब०—(सम्हल कर) क्यें ! अर ओह ! मेरी रामा, तुम हो ?

रामा—हाँ, मैं हूँ।

शम्ब०—(हँसकर) तभी तो मैं तुमको जान कर ही बोला, नहीं भला मैं किसी पर-स्त्री से—(जीभ निकाल कर कान पकड़ता है)

रामा—अच्छा, यह तो बताओ, कादम्ब पीना कहाँ से सीखा है ? और यह क्या बकते थे ?

शम्ब०—अरे प्रिये ! तुमसे न कहूँगा तो किससे कहूँगा, सुनो—

रामा—हाँ-हाँ, कहो ।

शम्ब०—तुमको रानी बनाऊँगा ।

रामा—(हँसकर) क्या !

शम्ब०—तुम्हें सोने से लाद दूँगा ।

रामा—किस तरह ?

शम्ब०—यह भी बतला दूँ ? तुम नित्य कहती आती हो कि 'तू निकम्मा है कुछ नहीं है'—सो मैं कुछ कर दिखाना चाहता हूँ।

रामा—अर कहो भी !

शम्ब०—यह पीछे बताऊँगा । आज तुम मनसा देवी के मन्दिर में न जाना, समझा न ?

रामा—(उत्सुकता से) क्यों ?

शम्ब०—सोना लेना हो, मान लेना हो, तो ऐसा ही करना, क्योंकि आज वहाँ जो कांड होगा, तुम उसे देख न सकोगी। तुम अभी इसी स्थान से लौट जाओ ।

रामा०—(डरती हुई) क्या करोगे ? तुम सियार की दुरभिसन्धि से भी भयानक दिखाई देते हो ! तुम क्या करोगे ? बोलो ।

शर्व०—(मद्यपान करता हुआ) हत्या ! थोड़ी-सी मदिरा दे, शीघ्र दे, नहीं तो छुरा भोंक दूँगा । ओह, मेरा नशा उखड़ा आ रहा है ।

रामा—आज तुम्हें क्या हो गया है ! मेरे स्वामी ! मेरे

शर्व०—अभी मैं तेरा कुछ नहीं हूँ । सोना मिलने से हो जाऊँगा, इसी का उद्योग कर रहा हूँ ।

(इधर-उधर देख कर बगल से सुराही निकाल कर पीता है)

रामा—ओह ! मैं समझ गई ! तूने बेच दिया—पिशाच के हाथ तूने अपने को बेच दिया । आहा ! ऐसा सुन्दर, ऐसा मनुष्योचित मन, कौड़ी के मोल बेच दिया । लोभवश मनुष्य से पशु हो गया है ! रक्त-पिपासु ! क्रूरकर्मा मनुष्य ! कृतघ्नता की कीच का कीड़ा ! नरक की दुर्गंध ! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूँगी । मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उनके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति तो क्या, स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पावेगा ।

शर्व०—क्या तू—ओ—तू,

रामा हाँ-हाँ, मैं न होने दूँगी । मुझे ही मार ले हत्यारे ! मद्यप ! तेरी रक्त पिपासा शान्त हो जाय । परन्तु महादेवी पर हाथ लगाया तो मैं पिशाचिनी-सी प्रलय की काली आँधी बन कर कुचक्रियों के जीवन की काली राख अपने शरीर में लपेट कर ताण्डव नृत्य करूँगी ! मान जा, इसी में तेरा भला है ।

शर्व०—अच्छा, तू इसमें विघ्न डालेगी । तू तो क्या विघ्नों का पहाड़ भी होगा तो ठोकरों से हटा दिया जायगा । मुझे सोना और सम्मान मिलने में कौन बाधा देगा ?

रामा—मैं दूँगी । सोना मैं नहीं चाहती, मान मैं नहीं चाहती, मुझे अपना स्वामी अपने उसी मनुष्य-रूप में चाहिए ।

पकड़ती है।) स्वामी! हिंस्र पशु भी जिनसे पाले जाते हैं, उन पर चोट नहीं करते, अरे तुम तो मस्तिष्क रखने वाले मनुष्य हो।

शर्व०—(टुकरा देता है) जा, तू हट जा, नहीं तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्याएँ करनी पड़ेंगी। मैं प्रतिश्रुत हूँ, वचन दे चुका हूँ।

रामा—(प्रार्थना करती हुई) तुम्हारा यह झूठा सत्य है। ऐसी प्रतिज्ञाओं का पालन सत्य नहीं कहा जा सकता, ऐसे धोखे के सत्य लेकर ही संसार में पाप और असत्य बढ़ते हैं। स्वामी! मान जाओ।

शर्व०—ओह, विलम्ब होता है, तो पहले तू ही ले—

(पकड़ना और मारना चाहता है। रामा शीघ्रता से हाथ छुड़ा कर भाग जाती है।)

(अनन्तदेवी, प्रपंचबुद्धि और भटार्क का प्रवेश)

भटार्क—शर्व!

शर्व०—जय हो! मैं प्रस्तुत हूँ, परन्तु मेरी स्त्री इसमें बाधा डालना चाहती है। मैं पहले उसी को पकड़ना चाहता था, परन्तु वह भगी।

अनन्तदेवी—सौगन्ध है! यदि तू विश्वासघात करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायगा।

प्रपंच०—शर्व! तुम तो स्त्री नहीं हो।

शर्व०—नहीं, मैं प्रतिश्रुत हूँ। परन्तु

भटार्क—तुम्हारी पद-वृद्धि और पुरस्कार का प्रमाण-पत्र यह प्रस्तुत है। (दिखाता है) काम हो जाने पर—

शर्व०—तब शीघ्र चलिए, कुछ रामा भीतर पहुँच गई होगी।

[सब जाते हैं]

[बन्दीगृह में देवकी और रामा]

रामा—महादेवी, मैं लज्जा के गर्त में डूब रही हूँ। मुझे कृतघ्नता और सेवा-धर्म धिक्कार दे रहे हैं। मेरा स्वामी

देवकी—शान्त हो रामा! बुरे दिन कहते किसे हैं? जब स्वजन लोग अपने शील-शिष्टाचार का पालन करें—आत्मसमर्पण, सहानुभूति, सत्पथ का पालन करें, तो दुर्दिन का साहस नहीं कि उस कुटुम्ब की ओर आँख उठाकर देखे। इसलिए इस कठोर समय में भगवान् की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान कर।

रामा—महादेवी! परन्तु आप की क्या दशा होगी?

देवकी—मेरी दशा! मेरी लाज का बोझ उसी पर है जिसने वचन दिया है, जिस विश्व-भवन की असीम दया अपना स्निग्ध अंचल सब दुखियों के आँसू पोंछने के लिए सदैव हाथ में लिये रहती है।

रामा—परन्तु उसने पिशाच का प्रतिनिधित्व ग्रहण किया है और

देवकी—न घबरा रामा! एक पिशाच नहीं, नरक के असंख्य दुर्दान्त प्रेत और क्रूर पिशाचों का त्रास और उनकी ज्वाला दयामय की कृपादृष्टि के बिन्दु से शान्त होती है।

(नेपथ्य से गाना)

पालना बनें प्रलय की लहरें!

शीतल हो ज्वाला की आँधी,
करुणा के घन छहरें।
दया दुलार करे, पल भर भी—
विपदा पास न ठहरे।
प्रभु का हो विश्वास सत्य तो,
सुख का केतन फहरे।

(भटार्क आदि के साथ अनन्तदेवी का प्रवेश)

अनन्त०—परन्तु खड्ग की लपलपाती रक्त-धारा से भी नहीं डरती देवकी! तुम मरने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।

देवकी—क्या तुम मेरी हत्या करोगी?

प्रपंचबुद्धि—हाँ! सद्धर्म का विरोधी, हिमालय की निर्जन ऊँची चोटी तथा अगाध समुद्र के अन्तस्तल में भी नहीं बचने पावेगा; और उस महाबलिदान का आरम्भ तुम्हीं से होगा। शर्व! आगे बढ़ो।

रामा—एक शर्व नहीं, तुम्हारे-जैसे सैकड़ों पिशाच भी यदि जुट कर आवें, तो आज महादेवी का अंगस्पर्श कोई न कर सकेगा।

(छुरी निकालती है)

शर्व०—मैं तेरा स्वामी हूँ रामा! क्या तू मेरी हत्या करेगी?

रामा—ओह! बड़ी धर्मबुद्धि जगी है पिशाच को, और यह महादेवी तेरी कौन है?

शर्व०—फिर भी मैं तेरा

रामा—स्वामी! नहीं-नहीं, तू मेरे स्वामी की नरकनिवासिनी प्रेतात्मा है। तेरी हत्या कैसी—तू तो कभी का मर चुका है।

देवकी—शान्त हो रामा! देवकी अपने रक्त के बदले और किसी का रक्त नहीं गिराना चाहती। चल रे रक्त के प्यासे कुत्ते! चल, अपना काम कर।

(शर्व आगे बढ़ता है)

अनन्तदेवी—क्यों देवकी! राजसिंहासन लेने की स्पर्धा क्या हुई?

देवकी—परमात्मा की कृपा है कि मैं स्वामी के रक्त से कलुषित सिंहासन पर न बैठ सकी।

भटार्क—भगवान् का स्मरण कर लो।

देवकी—मेरे अन्तर की करुण कामना एक थी कि 'स्कंद' को देख लूँ। परन्तु तुम लोगों से हत्यारों से मैं उसके लिए भी प्रार्थना न करूँगी। प्रार्थना उसी विश्वम्भर के श्रीचरणों में है, जो अपनी अनन्त दया का अभेद्य कवच पहना कर मेरे स्कंद को सदैव सुरक्षित रक्खेगा।

शर्व०—अच्छा तो (खड्ग उठाता है, रामा सामने आकर खड़ी हो जाती है) हट जा अभागिनी!

रामा—मूर्ख! अभागा कौन है! जो संसार के सब से पवित्र धन कृतज्ञता को भूल जाता है, और भूल जाता है कि सब के ऊपर एक अटल अदृष्ट का नियामक सर्वशक्तिमान् है, वह या मैं!

शर्व०—कहता हूँ कि अपनी लोथ मुझे पैरों से न ठुकराने दे!

रामा—टुकड़े का लोभी! तू सती का अपमान करे, यह तेरी स्पर्धा! तू कीड़ों से भी तुच्छ है। पहले मैं मरूँगी, तब महादेवी।

अनन्त०—(क्रोध से) तो पहले इसी का अन्त करो शर्व! शीघ्रता करो।

शर्व०—अच्छा तो यही होगा! (प्रहार करने पर उद्यत होता है) (किवाड़ तोड़कर स्कंद भीतर घुस आता है—पीछे मुद्गल और मातृगुप्त। आते ही शर्वनाग की गर्दन दबा कर तलवार छीन लेता है।)

स्कंद०—(भटार्क से) क्यों रे नीच पशु! तेरी क्या इच्छा है!

भटार्क—राजकुमार! वीर के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिए।

स्कंद०—तू वीर है ! अर्द्धरात्रि में निस्सहाय अबला महादेवी की हत्या के उद्देश्य से घुसने वाला चोर ! तुझे भी वीरता का अभिमान है ! तो द्वंद्व युद्ध के लिए आमंत्रित करता हूँ—बचा अपने को !

(भटार्क दो-एक हाथ चला कर घायल होकर गिरता है)

स्कंद०—मेरी सौतेली माँ ! तुम !

अनन्त०—स्कंद ! फिर भी मैं तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ !

(घुटनों के बल बैठ कर हाथ जोड़ती हुई)

स्कंद०—अनन्तदेवी ! कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो ! जाओ—मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता, परन्तु सावधान ! विद्रोह की इच्छा न करना, नहीं तो क्षमा असम्भव है !

'मेरा ! मेरी माँ !'

देवकी—(आलिंगन करके) आओ मेरे वत्स !

[अवन्ती-दुर्ग का एक भाग ; बन्धुवर्मा, भीमवर्मा और जयमाला का प्रवेश]

बन्धुवर्मा—बन्धु भीम ! बोलो, तुम्हारी क्या सम्मति है ?

भीम०—तात ! आपकी इच्छा, मैं आपका अनुचर हूँ !

जयमाला—परन्तु इसकी आवश्यकता ही क्या है ? उनका इतना बड़ा साम्राज्य है तब भी क्या मालव ही के बिना काम न चलेगा ?

बन्धु०—देवी ! केवल स्वार्थ देखने का अवसर नहीं है । यह ठीक है कि शकों के पतन-काल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंहवर्मा ने एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, और उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं, परन्तु उस राज्य का ध्वंस हो चुका था, म्लेच्छों की सम्मिलित वाहिनी उस [illegible] में [illegible] थी, उस समय तुम लोगों को केवल आत्म-हत्या का ही अवलम्ब

निस्तेज था, तब इन्हीं स्कंदगुप्त ने रक्षा की थी, यह राज्य अब न्याय से उन्हीं का है।

भीम०—परन्तु क्या वे माँगते हैं?

बन्धु०—नहीं भीम! युवराज स्कन्दगुप्त ऐसे क्षुद्र हृदय के नहीं, उन्होंने पुरगुप्त को इस अक्षम्य अपराध पर भी मगध का शासक बना दिया है। वह तो सिंहासन भी नहीं लेना चाहते।

जयमाला—परन्तु तुम्हारा मालव उन्हें प्रिय है।

बन्धु०—देवी, तुम नहीं देखती हो कि आर्य्यावर्त पर विपत्ति की प्रलय-मेघमाला घिर रही है, आर्य्यसाम्राज्य के अन्तर्विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी भली-भाँति जान गये हैं। शीघ्र ही देशव्यापी युद्ध की सम्भावना है। इसलिए यह मेरी ही सम्मति है कि साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिए आर्य्य-राष्ट्र के त्राण के लिए युवराज उज्जयिनी में रहें, इसी में सब का कल्याण है। आर्य्यावर्त का जीवन केवल स्कन्दगुप्त के कल्याण से है। और, उज्जयिनी में साम्राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा, सम्राट् होंगे स्कन्दगुप्त।

जयमाला—आर्य्यपुत्र! अपना पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरे के पदतल में निस्संकोच अर्पित करते हुए हृदय काँपता नहीं है? क्या फिर उन्हीं की सेवा करते हुए दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा?

बन्धु०—(*सिर झुका कर सोचते हुए*) तुम कृतघ्नता का समर्थन करोगी, वैभव और ऐश्वर्य के लिए ऐसा कदर्य प्रस्ताव करोगी, इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था।

जयमाला—यदि होता?

बन्धु०—तब मैं इस कुटुम्ब की कमनीय कल्पना को दूर ही से नमस्कार करता और आजीवन अविवाहित रहता। क्षत्रिये!

जो केवल शस्त्र का अवलम्ब रखने वाले हैं—सैनिक हैं उन्हें विलास की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता। सिंहासन पर, मुलायम गद्दों पर लेटने के लिए या अकर्मण्यता और शरीर पोषण के लिए क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।

भीम०—भैया ! सच !

बन्धु०—भीम ! क्षत्रियों का कर्तव्य है—आर्त त्राण-परायण होना, विपद का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुस्कराकर अवहेला करना, और—और विपन्नों के लिए, अपने धर्म के लिए, देश के लिए, प्राण देना !

(देवसेना का सहसा प्रवेश)

देवसेना—भाभी ! सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है ! क्षुद्र स्वार्थ, भाभी, जाने दो, भैया को देखो, कैसा उदार, कैसा महान और कितना पवित्र !

जयमाला—देवसेना ! समष्टि में भी व्यष्टि रहती है। व्यक्तियों से ही जाति बनती है। विश्वप्रेम, सर्वभूत हित-कामना परम धर्म है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो। इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका बहिष्कार हो ?

बन्धु०—ठहरो जयमाला ! इसी क्षुद्र ममत्व ने हमको दुष्ट भावना की ओर प्रेरित किया है, इसी से हम स्वार्थ का समर्थन करते हैं। हम छोड़ दो जयमाला ! इसके वशीभूत होकर हम अत्यन्त पवित्र वस्तुओं से बहुत दूर हो जाते हैं। बलिदान करने के योग्य वह नहीं, जिसने अपना आपा नहीं खोया।

भीम०—भाभी ! अब तक न करो। समस्त देश के कल्याण

के लिए—एक कुटुम्ब की भी नहीं, उसके चरण में स्वामी की बलि होने दो। भाभी! हृदय नाच उठा है, जाने दो इस नीच प्रस्ताव को। देखो—हमारा आर्य्यावर्त्त विपन्न है, यदि हम मर-मिटकर भी इसकी कुछ सेवा कर सकें

जयमाला—जब सभी लोगों की ऐसी इच्छा है तब मुझे क्या!

बन्धु०—तब मालवेश्वरी की जय हो! तुम्हीं इस सिंहासन पर बैठो। बन्धुवर्म्मा तो आज से आर्य्य-साम्राज्य-सेना का एक साधारण पदातिक सैनिक है। तुम्हें तुम्हारा ऐश्वर्य सुखद हो।

(जाना चाहता है)

भीम०—ठहरो भैया, हम भी चलते हैं।

चक्रपालित—*(प्रवेश करके)* धन्य वीर! तुमने क्षत्रिय का सिर ऊँचा किया है। बन्धुवर्म्मा! आज तुम महान् हो हम तुम्हारा अभिनन्दन करते हैं। रण में, वन में, विपत्ति में आनन्द में, हम सब सहभागी होंगे। धन्य तुम्हारी जननी—जिसने आर्य्यराष्ट्र का ऐसा शूर सैनिक उत्पन्न किया।

बन्धु०—स्वागत चक्र! मालवेश्वरी की जय हो! अब हम सब सैनिक जाते हैं।

चक्र०—ठहरो बन्धु! एक सुखद समाचार सुन लो। पिताजी का अभी अभी पत्र आया है कि सौराष्ट्र के शकों को निर्मूल करके परम भट्टारक मालव के लिए प्रस्थान कर चुके हैं।

बन्धु०—सम्भवतः महाराजपुत्र उत्तरापथ की सीमा की रक्षा करेंगे।

चक्र०—हाँ बन्धु!

देवसेना—चलो भाई, मैं भी तुम लोगों की सेवा करूँगी।

जयमाला—*(घुटने टेक कर)* मालवेश्वरी की जय हो! प्रजा

ने अपराध किया है, दंड दीजिए। पतिदेव! आपकी दासी क्षमा माँगती है। मेरी आँखें खुल गईं। आज हमने जो राज्य पाया है, वह विश्व-साम्राज्य से भी ऊँचा है—महान् है। मेरे स्वामी और ऐसे महान्! धन्य हूँ मैं

[मधुवर्मा सिर पर हाथ रखता है]

[पथ में भटार्क और उसकी माता]

कमला— तू मेरा पुत्र है कि नहीं ?

भटार्क— माँ ! संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है, और मुझे इतने ही पर विश्वास है । संसार के समस्त लांछनों को मैं तिरस्कार करता हूँ, किस लिए ? केवल इसीलिए कि तू मेरी माँ है, और वह जीवित है ।

कमला— और मुझे इसका दुःख है कि मैं मर क्यों न गई, मैं क्यों अपने कलंक-पूर्ण जीवन को पालती रही । भटार्क ! तेरी माँ को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा म्लेच्छों से पद-दलित भारतभूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डाले- मेरा सिर ऊँचा होगा । परन्तु हाय !

भटार्क— माँ ! तो तुम्हारी आशाओं को मैंने विफल किया ? क्या मेरी खड्गलता आग के फूल नहीं बरसाती ? क्या मेरे रण-नाद वज्र ध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कँपा देते ! क्या-तर भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते !

कमला—मानते हैं, इसी से तो और ग्लानि है ।

भटार्क—घर लौट चलो माँ ! ग्लानि क्यों है ?

कमला—इसलिए कि तू देशद्रोही है । तू राजकुल की शांति का प्रलय-मेघ बन गया, और तू साम्राज्य के कुचक्रियों में से एक है । ओह ! नीच ! कृतघ्न ! कमता कलंकिनी हो सकती है, परन्तु यह नीचता, कृतघ्नता, उसके रक्त में नहीं । (रोती है)

(विजया का प्रवेश)

विजया—माता ! तुम क्यों रो रही हो ? (भटार्क की ओर देखकर) और यह कौन है ! क्यों जी ! तुमने इस वृद्धा का क्यों अपमान किया है !

कमला—देवी ! यह मेरा पुत्र था ।

विजया—ऐं ! क्या अब नहीं !

कमला—नहीं, इसने महाबलाधिकृत होने के लालच में अपने हाथ पैर पाप-शृंखला में जकड़ दिये, अब फिर भी उज्जयिनी में आया है—किसी षड्यन्त्र के लिए !

विजया—कौन, तुम महाबलाधिकृत भटार्क हो ! और तुम्हारी माता की यह दीन दशा !

कमला—ना बेटी ! उससे कुछ मत कहो, मैं स्वयं इसका ऐश्वर्य त्याग कर चली आई हूँ। महाकाल के मन्दिर में भिक्षा ग्रहण कर इसी उज्जयिनी में पड़ी रहूँगी, परन्तु इससे

भटार्क—माँ ! अब और लज्जित न करो। चलो—घर चलूँ।

विजया—(स्वगत) अहा ! कैसी गौरव-व्यंजक मनोहर मूर्ति है ! और गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत !

कमला—इस पिशाच ने छलना के लिए रूप बदला है। सम्राट् का अभिषेक होने वाला है, यह उसी में कोई प्रपञ्च रचने आया है। अभी कोई न सुनेगा नहीं तो मैं स्वयं इसे दंडनायक को समर्पित कर देती।

(सहसा मातृगुप्त, मुद्गल और गोविन्दगुप्त का प्रवेश)

कौन ! भटार्क ! अरे यहाँ भी !!

(भटार्क तलवार निकालता है, गोविन्दगुप्त उसके हाथ से तलवार छीन लेते हैं)

मुद्गल—महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय !

गोविन्द०—भटार्क ! वीरता उन्माद नहीं है, आँधी नहीं है, जो उचित-अनुचित का विचार न करती हो। केवल शस्त्र-बल पर टिकी हुई वीरता बिना पैर की होती है। उसकी दृढ़ भित्ति है—न्याय। तू उसे कुचलने पर सिर ऊँचा उठा कर नहीं रह सकता। मातृगुप्त ! बन्दी करो इसे।

और तुम कौन हो भद्रे !

कमला—मैं इस कृतघ्न की माता हूँ। अच्छा हुआ, मैं तो स्वयं यही विचार करती थी।

गोविन्द०—यह तो मैंने अपने कानों से सुना। धन्य हो देवी! तुम जैसी जननियाँ जब तक उत्पन्न होंगी, तब तक आर्यराष्ट्र का विनाश असम्भव है।

और यह युवती कौन है?

कमला—मुझे आश्रय देती थी कोई अभिजात कुल की कन्या है। इसका कोई अपराध नहीं।

मुद्गल—अरे राम! यह भी अवश्य कोई भयानक स्त्री होगी!

मातृगुप्त—परन्तु यह अपना कोई परिचय भी नहीं दे रही है।

विजया—मैं अपराधिनी हूँ, मुझे भी बन्दी करो।

भटार्क—यह क्या! इस युवती से तो मैं परिचित भी नहीं हूँ, इसका कोई अपराध नहीं।

विजया—(स्वगत) ओह! इस आनन्द-महोत्सव में मुझे कौन पूछता है? मैं मालव में अब किस काम की हूँ। विजय मार्ग ने समस्त राज्य अर्पण कर दिया है—वह देवसेना और वहाँ मैं! तब तो मेरा मरी (भटार्क की ओर देखती है)

गोविन्द०—भद्रे! तुम अपना, स्पष्ट परिचय दो।

विजया—मैं अपराधिनी हूँ।

मातृगुप्त—परन्तु तुम्हारा और भी कोई परिचय है?

विजया—यही कि मैं बन्दी होने की अभिलाषिणी हूँ।

कमला—क्यों! तुम अकारण क्यों दुःख उठाती हो?

विजया—मेरी इच्छा। मुझे बन्दी कीजिए। मैं अपना परिचय न्यायाधिकरण में दूँगी। यहाँ मैं कुछ न कहूँगी। मेरा यहाँ अपमान किया जायगा, तो आर्यराष्ट्र के नाम पर मैं तुम लोगों पर अभियोग लगाऊँगी।

गोविन्द०—क्यों भटार्क ! यदि तुम्हीं कुछ कहते—

भटार्क—मैं कुछ नहीं जानता कि यह कौन है। मुझे भी विलम्ब हो रहा है, शीघ्र न्यायाधिकरण में ले चलिए।

मुद्गल—और वृद्धा कमला !

गोविन्द०—वह बन्दी नहीं है, परन्तु एक बार स्कन्द के समक्ष उसे चलना होगा।

मातृगुप्त—तो फिर सब चलें, अभिषेक का समय भी समीप है।

[सब जाते हैं]

[राजसभा]

(बन्धुवर्मा, भीमवर्मा मातृगुप्त तथा मुद्गल के साथ स्कन्द
का एक ओर से और दूसरी ओर से गोविन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्द०—(बीच में खड़ा होकर) तात ! कहाँ थे ! इस बाल
पर अकारण क्रोध करके कहाँ छिपे थे !

(चरण-वन्दन करता है)

गोविन्द०—उठो वत्स ! आर्य चन्द्रगुप्त की अनुपम प्रति
कृति ! गुप्तकुल तिलक ! भाई से मैं रूठ गया था, परन्तु तुमसे कदापि
नहीं, तुम मेरी आत्मा हो वत्स ! (आलिंगन करता है । अनुचरियों के
साथ देवकी का प्रवेश, स्कन्द देवकी का चरण-वन्दन करता है ।)

देवकी—वत्स ! चिरविजयी हो ! देवता तुम्हारे रक्षक हों।
महाराजपुत्र ! इसे आशीर्वाद दीजिए कि गुप्तकुल के गुरुजनों के
प्रति यह विनयशील रहे ।

गोविन्द—महादेवी ! तुम्हारी कोख से पैदा हुआ यह रत्न, यह
गुप्तकुल के अभिमान का चिह्न, सदैव यशोमंडित रहेगा !

स्कन्द०—(बन्धुवर्मा से) मित्र मालवेश ! बढ़ो, सिंहासन
बैठो ! हम लोग तुम्हारा अभिनन्दन करें ।

(जयमाला और देवसेना का प्रवेश)

जयमाला—देव ! यह सिंहासन आप का है, मालवेश का इस
पर कोई अधिकार नहीं । आर्यावर्त के सम्राट् के अतिरिक्त अब दूसरा
कोई मालव के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता ।

("मालव की जय हो"—तुमुल ध्वनि)

बन्धुवर्मा—(हँसकर) सम्राट् ! अब तो मालवेश्वरी ने स्वयं
सिंहासन त्याग दिया है, और मैं उन्हें दे चुका था, इसलिए अब
सिंहासन ग्रहण करने में विलम्ब न कीजिए ।

गोविन्द०—वत्स ! इन आर्य जाति के रत्नों की कैसी

प्रशंसा करूँ। इनका स्वार्थ-त्याग दधीचि के दान से कम नहीं। बढ़ो वत्स! सिंहासन पर बैठो, मैं तुम्हारा तिलक करूँ।

स्कन्द०—तात! विपत्तियों के बादल घिर रहे हैं, अन्तर्विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित है, इस समय मैं केवल एक सैनिक बन सकूँगा, सम्राट् नहीं।

गोविन्दगुप्त—आज आर्य-जाति का प्रत्येक बच्चा सैनिक है, सैनिक छोड़ कर और कुछ नहीं। आर्य-कन्याएँ अपहरण की जाती हैं, हूणों के विकट तांडव से पवित्र भूमि पादाक्रांत है, कहीं देवता की पूजा नहीं होती, सीमा की बर्बर जातियों की राक्षसी वृत्ति का प्रचंड पर्वत फैला है। इसी समय जाति तुम्हें पुकारती है सम्राट्—होने के लिए नहीं, उद्धार-युद्ध में सेनानी बनने के लिए—सम्राट्!

(गोविन्दगुप्त और बन्धुवर्मा हाथ पकड़कर स्कन्दगुप्त को सिंहासन पर बैठाते हैं। भीम छत्र लेकर बैठता है। देवसेना चमर करती है। गरुड़ध्वज लेकर बन्धुवर्मा खड़े होते हैं। देवकी राजतिलक करती है। गोविन्दगुप्त खड्ग का उपहार देते हैं। चक्र गरुड़ांकित राजदण्ड देता है।)

गोविन्दगुप्त—परम भट्टारक महाराजाधिराज स्कन्दगुप्त की जय हो।

सब—(समवेत स्वर से) जय हो।

बन्धु०—आर्य-साम्राज्य के महाबलाधिकृत महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय हो! (सब वैसा ही कहते हैं)

स्कन्द०—आर्य! इस गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूँ, और आर्यराष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिए भगवान् से प्रार्थना कीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि स्कन्दगुप्त अपने कर्तव्य से, स्वदेश-सेवा से, कभी विचलित न हो।

गोविन्द०—सम्राट्! परमात्मा की असीम अनुकम्पा से आप उद्देश्य सफल हो। आज गोविन्द ने अपना कर्तव्य पालन किय वत्स बन्धुवर्मा! तुम इस नवीन आर्यराष्ट्र के संस्थापक हो। तुम्हा इस आत्मत्याग की गौरव-गाथा आर्य जाति का मुख उज्ज्वल करेगी। वीर! इस युद्ध में साम्राज्य के महाबलाधिकृत होने की क्षमता नहीं तुम्हीं इसके उपयुक्त हो।

बन्धु०—अभी नहीं आर्य! आपके चरणों में बैठ कर यह बालक स्वदेश-सेवा की शिक्षा ग्रहण करेगा। मालव का राजकुटुम्ब, एक-एक बच्चा आर्य जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है। आप जो आज्ञा देंगे वही होगा।

'धन्य! धन्य!!'

स्कन्द०—तात! पर्णदत्त इस समय नहीं है।

चक्र०—सम्राट्! वह सौराष्ट्र की चञ्चल राष्ट्रनीति की देख-रेख में लगे हैं।

(कुमारदास का प्रवेश)

मातृगुप्त—सिंहल के युवराज कुमार धातुसेन की जय हो!

(सब आश्चर्य से देखते हैं)

स्कन्द०—कुमारदास सिंहल के युवराज!

मातृगुप्त—हाँ महाराजाधिराज!

स्कन्द०—अद्भुत! वीर युवराज! तुम्हारा स्नेह क्या कभी भूल सकता है! आओ स्वागत!

(सब मंच पर बैठते हैं)

गोविन्द०—बन्दियों को ले आओ।

(सैनिकों के साथ भटार्क, शर्वनाग, विजया तथा कमला का प्रवेश)

स्कन्द०—क्यों शर्व! तुम क्या चाहते हो?

शर्व०—सम्राट्! मुझे वध की आज्ञा दीजिए ऐसे नीच के लिए और कोई दंड नहीं है।

स्कन्द०—नहीं, मैं तुम्हें इससे भी कड़ा दण्ड दूँगा, जो वध से भी उग्र होगा।

शर्व०—वही हो सम्राट्! जितनी यन्त्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा।

स्कन्द०—परन्तु मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ, क्षमा करता हूँ। तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकड़ों बिच्छुओं के डंक की चोट करेंगे। आजीवन तुम उसी यन्त्रणा को भोगो, क्योंकि रामा—साध्वी रामा—को मैं अपनी आज्ञा से विधवा न बनाऊँगा। रामा सती! तेरे पुण्य से आज तेरा पति मृत्यु से बचा।

(रामा सम्राट् का पैर पकड़ती है)

शर्व०—दुहाई सम्राट् की! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, नहीं तो आत्म-हत्या करूँगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचरण किया था। ओह! (छुरी निकालना चाहता है)

स्कन्द०—ठहरो शर्व! मैं तुम्हें आजीवन बन्दी बनाऊँगा।

(रामा आश्चर्य और दुःख से देखती है)

स्कन्द०—शर्व! यहाँ आओ।

(शर्व समीप आता है)

देवकी—वत्स! इसे किसी विषय का शासक बना कर भेजो, जिससे दुखिया रामा को किसी प्रकार का कष्ट न हो।

सब—महादेवी की जय हो।

स्कन्द०—शर्व! तुम आज से अन्तर्वेद के विषयपति नियत किये गए। यह लो—(खड्ग देता है)

शर्व०—(रुद्ध कण्ठ से) सम्राट् देवता! आपकी जय हो! (देवकी के पैर पर गिर कर) माँ! मुझे क्षमा करो, मैं मनुष्य से

पशु हो गया था। अब तुम्हारी ही दया से मैं मनुष्य हुआ। आशीर्वाद दो भगवती कि मैं देव-चरणों में आत्मबलि देकर जीवन सफल करूँ।

देवकी—उठो। क्षमा पर मनुष्य का अधिकार है, वह पशु के पास नहीं मिलती। प्रतिहिंसा पाशव धर्म है। उठो मैं तुम्हें क्षमा करती हूँ।

(शर्व खड़ा होता है)

स्कन्द०—भटार्क! तुम इस गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत नियत किये गये थे, और तुम्हीं साम्राज्य-लक्ष्मी महादेवी की हत्या के कुचक्र में सम्मिलित हो। यह तुम्हारा अक्षम्य अपराध है।

भटार्क—मैं केवल राजमाता की आज्ञा का पालन करता था।

देवकी—क्यों भटार्क! तुम यह उत्तर सच्चे हृदय से देते हो क्या ऐसा कर कर तुम स्वयं अपने को धोखा देते हुए औरों को भी प्रवंचित नहीं कर रहे हो?

भटार्क—अपराध हुआ (सर नीचा कर देता है)

स्कन्द०—तुम्हारे खड्ग पर साम्राज्य को भरोसा था। तुम्हारे हृदय पर तुम्हीं को भरोसा न रहे, यह बड़े धिक्कार की बात है। तुम्हारा इतना पतन! (भटार्क स्तब्ध रहता है। विजया की ओर देख कर) और तुम विजया! तुम क्यों इसमें—

देवसेना—सम्राट्! विजया मेरी सखी है।

विजया—परन्तु मैंने भटार्क को वरण किया है।

जयमाला—विजया!

विजया—कर चुकी देवी!

देवसेना—उसके लिए दूसरा उपाय न था राजाधिराज!

ईर्ष्या मनुष्य को इतना नीचे गिरा सकती है! परन्तु विजया तू ने किया क्या।

(स्कन्द विजया की ओर देखते हुए विचार में पड़ जाता है)

धातुसेन—यह वृद्धा दुःखी कमला भटार्क की माता है। भटार्क के नीच कर्मों से दुःखी होकर यह उन्मादिनी चली आई है।

स्कन्द०—परन्तु विजया, तुमने यह क्या किया!

देवसेना—(स्वगत) आह! जिसकी मुझे आशंका थी, वही है। विजया! आज तू हार कर भी जीत गई।

कमला—वत्स! आज तुम्हारे इस महाभिषेक में एक बूँद भी रक्त न गिरे। तुम्हारी माता की भी यह मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन-दण्ड क्षमा के संकेत पर चला करे। आज मैं सब के लिए क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

कुमारदास—भाग्यवती स्त्री! तुम धन्य हो! इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊँचा रहेगा।

स्कन्द०—जैसी माता की इच्छा—

मातृगुप्त—परमेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज स्कन्दगुप्त की जय!!

[यवनिका]

तृतीय अंक

[शिप्रा-तट]

प्रपंचबुद्धि—सब विफल हुआ। इस दुरात्मा स्कन्दगुप्त ने मेरी आशाओं के भंडार पर अर्गला लगा दी। कुसुमपुर में पुरगुप्त और अनन्तदेवी अपने विडम्बना के दिन बिता रहे हैं। भटार्क भी बन्दी हुआ, उसके प्राणों की रक्षा नहीं। क्रूर कर्मों की अवतारणा से भी एक बार सद्धर्म के उठाने की आकांक्षा थी; परन्तु वह दूर गया। (कुछ सोच कर) उग्रतारा की साधना से विकट से भी विकट कार्य सिद्ध होते हैं, तो फिर इस महाकाल में महास्मशान से बढ़ कर कौन उपयुक्त स्थान होगा। चलूँ—

भटार्क—भिक्षुशिरोमणे! प्रणाम!

प्रपंच—कौन, भटार्क! अरे मैं स्वप्न देख रहा हूँ क्या!

भटार्क—नहीं आर्य, मैं जीवित हूँ।

प्रपंच०—उसने तुम्हें शूली पर नहीं चढ़ाया?

भटार्क—नहीं उससे बढ़ कर।

प्रपंच०—क्या?

भटार्क—मुझे अपमानित करके क्षमा किया। मेरी वीरता पर दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया।

प्रपंच०—तुम मूर्ख हो। शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिये, न कि उसके उपकारों का स्मरण।

भटार्क—मैं इतना नीच नहीं हूँ।

प्रपञ्च०—परन्तु मैं तुम्हारी प्रकृति जानता हूँ। तुम इतने उच्च भी नहीं हो। चलो एकान्त में बात करें। कोई आता है।

(दोनों जाते हैं)

(विजया का प्रवेश)

विजया—मैं कहाँ जाऊँ! उस उच्छृंखल वीर को मैं लौहशृंखला पहना सकूँगी! उसे अपने बाहु-पाश में जकड़ सकती हूँ! हृदय के विकल मनोरथ! आह!

(गाना)

उमड़ कर चली भिगोने आज,
तुम्हारा निश्चल अञ्चल छोर।
नयन-जल-धारा रे प्रतिकूल!
देख ले तू फिरकर इस ओर।
हृदय की अन्तरतम मुसक्यान
कल्पनामय तेरा यह विश्व।
लालिमा में लय हो लवलीन,
निरखते इन आँखों की कोर।

यह मान! ओ! राजकुमारी!

(देवसेना का प्रवेश—दूर पर उसकी परिचारिकाएँ)

देवसेना—विजया! सार्वभौम का दृश्य देखने शिप्रा-तट पर तुम भी आ गई हो।

विजया—हाँ राजकुमारी! (सिर झुका लेती है)

देवसेना—विजया, अच्छा हुआ, तुमसे भेंट हो गई, मुझे कुछ पूछना था।

विजया—पूछना क्या है!

देवसेना—क्या जो तुमने किया है, उसे सोच-समझ कर! नहीं

तुम्हारे दम्भ ने तुमको छल तो नहीं लिया? तीव्र मनोवृत्ति के प्रभाव ने तुम्हें विपथगामिनी तो नहीं बना दिया?

विजया—राजकुमारी! मैं अनुगृहीत हूँ। उस कृपा को नहीं भूल सकती, जो आपने दिखाई है। परन्तु अब और प्रश्न करके मुझे उत्तेजित करना ठीक नहीं।

देवसेना—(आश्चर्य से) क्यों विजया! मेरे सखी-जनोचित सरल प्रश्न में भी तुम्हें व्यंग सुनाई पड़ता है?

विजया—क्या इसमें भी प्रमाण की आवश्यकता है? राजकुमारी! आज से मेरी ओर देखना मत। मुझे हत्या, अभिशाप की ज्वाला समझना और

देवसेना—ठहरो, थम के लो! दुःख के गर्त में गिरने के पहले विवेक का अवलम्बन ले लो विजया!

विजया—हताश जीवन कितना भयानक होता है—यह नहीं जानती हो? उस दिन जिस तीखी छुरी को रखने के लिए मेरी हँसी उड़ाई जा रही थी, मैं समझती हूँ कि उसे रख लेना मेरे लिए आवश्यक था। राजकुमारी! मुझे न छूना। मैं तुम्हारी शत्रु हूँ। (छुरा से देखती है)

देवसेना—(आश्चर्य से) क्या कह रही हो?

विजया—वही जिसे तुम सुन रही हो।

देवसेना—वह तो जैसे उन्मत्त का प्रलाप था, अकस्मात् स्वप्न देख कर जग जाने वाले प्राणी की कुतूहल-गाथा थी। विजया! क्या मैंने तुम्हारे सुख में बाधा दी? परन्तु मैंने तो तुम्हारे मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोड़े न बिछाये।

विजया—उपकारों की ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना-लता को समूल उखाड़ कर कुचल दिया!

देवसेना—धीमता करने वाली स्त्री ! अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर न फेंक। देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती है। अच्छा, इससे क्या !

(जाती है)

विजया—जाती हो, परन्तु सावधान !

(भटार्क और प्रपंचबुद्धि का प्रवेश)

भटार्क—विजया ! तुम कब आई हो ?

विजया—अभी अभी, तुम्हीं को तो खोज रही थी। (प्रपंचबुद्धि को देखकर) आप कौन हैं ?

भटार्क—'योगाचार-संघ' के प्रधान श्रमण आर्य्य प्रपंचबुद्धि।

(विजया नमस्कार करती है)

प्रपंच०—कल्याण हो देवी ! भटार्क से तो तुम परिचित-सी हो, परन्तु मुझे भी जान जाओगी।

विजया—आर्य्य ! आपके अनुग्रह-लाभ की बड़ी आकांक्षा है।

प्रपंच०—शुभे ! प्रज्ञापारमिता-स्वरूपा तारा तुम्हारी रक्षा करे ! क्या तुम सद्धर्म की सेवा के लिए कुछ उत्सर्ग कर सकोगी ! (कुछ सोचकर) तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होने में विघ्न और विलम्ब है। इसीलिए तुम्हें अवश्य धर्माचरण करना होगा।

विजया—आर्य्य ! मेरा भी एक स्वार्थ है।

प्रपंच०—क्या ?

विजया—राजकुमारी देवसेना का अन्त !

प्रपंच०—और मुझे उग्रतारा की साधना के लिए महाश्मशान में एक राजबलि चाहिए।

भटार्क—यह तो अच्छा सुयोग है।

विजया—उसे श्मशान तक ले आना तो मेरा काम है ; आगे मैं कुछ न कर सकूँगी।

प्रपंच०—सब हो जायगा। उग्रतारा की कृपा से सब कुछ सुसम्पन्न होगा।

भटार्क—परन्तु मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा, और स्कन्दगुप्त से मैं किस मुँह से नहीं, नहीं

प्रपंच०—सावधान भटार्क! प्रकाश से आकर इतना समझाया, फिर भी! तुम स्वयं अनन्तदेवी और पुरगुप्त अभिभूत हो चुके हो।

भटार्क—ओह! पाप-पंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं! कुकर्म उसे जकड़ कर अपने नागपाश में बाँध लेता है। दुर्भाग्य!

मातृगुप्त—(*निकल कर*) भयानक कुचक्र! एक निर्मल कुसुम कली को कुचलने के लिए इतनी बड़ी प्रतारणा की चक्की! मनुष्य! तुझे हिंसा का उतना ही लोभ है, जितना एक भूखे भेड़िये को। तब भी तेरे पास उससे कुछ विशेष साधन हैं—छल, कपट, विश्वासघात, कृतघ्नता और ऐसे अस्त्र। इनसे भी बढ़ कर प्राण लेने की कलाकुशलता। देखा जायगा, भटार्क! तुम जाते कहाँ हो!

[जाता है]

(श्मशान में साधक-रूप से प्रपञ्चबुद्धि। दूर से स्कन्दगुप्त टहलता हुआ आता है)

स्कन्द०—इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति! केवल मेरे अस्तित्व से? मालूम होता है कि सब की—विश्व-भर की—शान्ति-रजनी में मैं ही धूमकेतु हूँ, यदि मैं न होता, तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से, चला करता। परन्तु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला—कहीं भी कामना की वन्या नहीं। बलवती आशा की आँधी नहीं चल रही है। केवल गुप्त सम्राट् के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न रक्खा है। कोई भी मेरे अन्तःकरण का आलिंगन करके न रो सकता है, और न तो हँस सकता है। तब भी विजया! ओह! उसे स्मरण करके क्या होगा। जिसे हमने सुख शर्वरी की सन्ध्यातारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगन्त-दाह करना चाहती है। विजया! तूने क्या किया! (देखकर) ओह! कैसा भयानक मनुष्य है! कैसी क्रूर आकृति है! मूर्तिमान पिशाच है! अच्छा, मातृगुप्त तो अभी तक नहीं आया। छिप कर देखूँ।

(छिपता है)

(विजया के साथ देवसेना का प्रवेश)

देवसेना—आज फिर तुम किस अभिप्राय से आई हो?

विजया—और तुम राजकुमारी! क्या तुम इस महा वीभत्स श्मशान में आने से नहीं डरती हो?

देवसेना—संसार का मूक शिक्षक श्मशान' क्या डरने की वस्तु है? जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के उत्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है?

(नेपथ्य से गान)

सब जीवन बीता जाता है
धूप-छाँह के खेल-सदृश।—सब०

समय भागता है प्रतिक्षण में,
नव अतीत के तुषार कण में,
हमें लगा कर भविष्य-रण में,
आप कहाँ छिप जाता है।—सब०

बुल्ले, लहर, हवा के झोंके,
मेघ और बिजली के टोंके,
किसका साहस है कुछ रोके,
जीवन का वह नाता है।—सब०

वंशी को बस बज जाने दो,
मीठी मीड़ों को आने दो,
आँख बन्द करके गाने दो,
जो कुछ हमको आता है।—सब०

विजया—(*स्वगत*) भाव विभोर हृदय की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी-सी कुमारी   आह! कैसा भोला मुखड़ा है! नहीं नहीं विजया! सावधान! प्रतिहिंसा   (*प्रकट*) राजकुमारी! देखो, यह कोई बड़ा सिद्ध है, वहाँ तक चलोगी?

देवसेना—चलो, परन्तु मुझे सिद्ध से क्या प्रयोजन! जब मेरी कामनाएँ विस्मृति के नीचे दबा दी गई हैं, तब चाहे स्वयं ईश्वर ही हो तो क्या! तब भी एक कुतूहल है, चलो—(*विजया देवसेना को आगे कर प्रपंचबुद्धि के पास ले जाती है और आप हट जाती है। ध्यान से आँख खोल कर प्रपंच उसे देखता है।*)

प्रपंच०—तुम्हारा नाम देवसेना है?

देवसेना—(*आश्चर्य से*) हाँ भगवन्!

प्रपञ्च०—तुमको देवसेवा के लिए शीघ्र प्रस्तुत होना होगा। तुम्हारी ललाट लिपि कह रही है कि तुम बड़ी भाग्यवती हो।

देवसेना—कौन सी देवसेवा?

प्रपञ्च०—यह नश्वर शरीर, जिसका उपभोग तुम्हारा प्रेमी भी न कर सका और न करने की आशा है, देवसेवा में अर्पित करो। उग्रतारा तुम्हारा परम मंगल करेगी।

देवसेना—(सिहर उठती है) क्या मुझे अपनी बलि देनी होगी? (घूम कर देखती है) विजया! विजया!!

प्रपञ्च०—डरो मत, तुम्हारा सृजन इसीलिए था। नित्य की मार ज्वाला में जलने से तो यही अच्छा है कि तुम एक साधक का उपकार करती हुई अपनी ज्वाला शान्त कर दो।

देवसेना—परन्तु कापालिक! एक और भी आशा मेरे हृदय में है। वह पूर्ण नहीं हुई है। मैं डरती नहीं हूँ, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूँगी। मुझे भ्रम है, यदि वह छूट जाता

प्रपञ्च०—(उठ कर उसका हाथ पकड़ कर खड्ग उठाता है) पर मुझे ठहरने का अवकाश नहीं। उग्रतारा की इच्छा पूर्ण हो।

देवसेना—प्रियतम! मेरे देवता युवराज!! तुम्हारी जय हो!

(सिर झुकाती है)

(पीछे से मातृगुप्त आकर प्रपंच का हाथ पकड़ कर मण्डप में ले जाता है, देवसेना चकित होकर स्कन्द का आलिंगन करती है।)

(मगध में अनन्तदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क)

पुरगुप्त—विजय पर विजय! देखता हूँ कि एक बार वंक्षु-तट पर गुप्त-साम्राज्य की पताका फिर फहरायगी। गरुड़ध्वज वंक्षु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्ण-प्रभा का विस्तार करेगा।

अनन्त०—परन्तु तुमको क्या? निर्वीर्य, निरीह बालक! तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता है? लज्जा के गर्त में डूब नहीं जाते। और भी छाती फुलाकर इसका आनन्द मनाते हो!

विजया—अहा! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनन्दन कर सकती!

भटार्क—यदि मैं जीता रहा तो यह भी कर दिखलाऊँगा!

(दौवारिक का प्रवेश)

दौवारिक—जय हो! एक चर आया है।

भटार्क—ले आओ।

(दौवारिक जाकर चर को लिवा लाता है)

चर—युवराज की जय हो!

भटार्क—तुम कहाँ से आये हो?

चर—नगरहार के हूण-स्कन्धावार से।

भटार्क—क्या संदेश है?

चर—सेनापति खिंगिल ने पूछा है कि मगध की गुप्तपरिषद् क्या कर रही है? उसने प्रचुर अर्थ लेकर भी मुझे ठीक समय पर धोखा दिया है। परन्तु स्मरण रहे कि अबकी हमारा अभियान सीधे कुसुमपुर पर होगा, स्कन्दगुप्त का साम्राज्य-ध्वंस पीछे होगा। पहले कुसुमपुरी मणि-रत्न भांडार लूटा जायगा। प्रतिष्ठान और चरणाद्रि तथा गोपाद्रि के दुर्गपतियों को धन विद्रोह करने के लिए परिषद् की आज्ञा से भेजा गया था, उसका क्या फल हुआ? अन्तर्वेद के विषयपति की कुटिल दृष्टि ने उस रहस्य

का उद्घाटन करके यह धन भी आत्मसात् कर लिया और स्वामता के बदले हम लोग प्रवंचित हुए, जिससे हूणों को सिन्धु का तट छोड़ देना पड़ा।

भटार्क—ओह! शर्वनाग ने बड़ी सावधानी से काम लिया। आचार्य प्रपंचबुद्धि का निधन होने से यह सब दुर्घटना हुई है दूत! हूणराज से कहना कि पुरगुप्त को सम्राट् बनाने में तुम्हें अवश्य सहायता करनी पड़ेगी।

दूत—परन्तु उन्हें विश्वास कैसे हो?

भटार्क—मैं प्रमाणपत्र दूँगा हूणों को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कन्दगुप्त ने समस्त सामन्तों को आमन्त्रण दिया है। मगध की रक्षक सेना भी उसमें सम्मिलित होगी, और मैं ही उसका परिचालन करूँगा। यही इसका स्पष्ट प्रमाण मिलेगा। और यह लो प्रमाणपत्र। (पत्र लिखकर देता है)

पुरगुप्त—ठहरो।

अनन्त०—चुप रहो।

दूत—तो यह उपहार भी सम्राज्ञी के लिए प्रस्तुत है।

(रत्नों से भरी हुई मंजूषा देता है)

भटार्क—और उत्तरापथ के समस्त धर्मसंघों के लिए क्या है?

दूत—आप महाश्रमण के पास मैं हो आया हूँ। समस्त सद्धर्म के अनुयायी और संघ, स्कन्दगुप्त के विरुद्ध हैं। धार्मिक क्रियाओं की प्रखरता से उनका हृदय धर्मनाश के भय से घबरा उठा है। सब विद्रोह करने के लिए उत्सुक हैं।

भटार्क—अच्छा, जाओ। नगरहार के गिरिव्रज का युद्ध इसका निपटारा करेगा। हूणराज से कहना कि सावधान रहें, शीघ्र वहीं मिलूँगा।

(दूत प्रणाम करके जाता है)

पुरगुप्त—यह क्या हो रहा है?

अनन्त०—तुम्हारे सिंहासन पर बैठने की प्रस्तावना है!

(सैनिक का प्रवेश)

सैनिक—महादेवी की जय हो!

भटार्क—क्या है?

सैनिक—कुसुमपुर की सेना जालन्धर से भी आगे बढ़ चुकी है। साम्राज्य के स्कंधावार में शीघ्र ही उसके पहुँच जाने की संभावना है।

पुरगुप्त—विजया! बहुत विलम्ब हुआ। एक पात्र

(अनन्तदेवी संकेत करती है, विजया उसे पिलाती है)

भटार्क—मेरे अश्वों की व्यवस्था ठीक है न! मैं उसके पहले पहुँचूँगा।

सैनिक—परन्तु महाबलाधिकृत!

भटार्क—क्या! क्यों!

सैनिक—यह राष्ट्र का आपत्ति काल है, युद्ध की आयोजनाओं के बदले हम कुसुमपुर में आपानकों का समारोह देख रहे हैं। राजधानी विलासिता का केन्द्र बन रही है। वहाँ के मनुष्यों के लिए विलास के उपकरण बिखरे रहने पर भी अपर्याप्त हैं! नये-नये साधन और नवीन कल्पनाओं से भी इस विलासिता राक्षसी का पेट नहीं भर रहा है। भला मगध के विलासी सैनिक क्या करेंगे!

भटार्क—अबोध! जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है! जिस जाति में जीवन न होगा वह विलास क्या करेगी! जाग्रत राष्ट्र में ही विलास और कलाओं का आदर होता है। वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते हैं।

विजया—बात तो यही है।

सैनिक—आप महाबलाधिकृत हैं, इसलिए मैं कुछ नहीं कहूँगा।

भटार्क—नहीं तो!

सैनिक—यदि दूसरा कोई ऐसा कहता, तो मैं यही उससे कहता कि तुम देश के शत्रु हो।

भटार्क—(क्रोध से) हैं!

सैनिक—हाँ, यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य्य जाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में। देश पर बर्बर हूणों की चढ़ाई और तिस पर भी यह निर्लज्ज आमोद! जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का यह दृश्य है। आह! जिस मगध देश की सेना सदैव नासीर में रहती थी, आर्य्य चन्द्रगुप्त की वही विजयनीय सेना सब के पीछे निमंत्रण पाने पर सामान्य सेना में जाय! महाबलाधिकृत! मेरी तो इच्छा होती है कि मैं आत्म-हत्या कर लूँ। मैं उस सेना का नायक हूँ, जिस पर गरुड़-ध्वज की रक्षा का भार रहता था। आर्य्य समुद्रगुप्त की प्रतिष्ठित उस सेना का ऐसा अपमान!

भटार्क—(अपने क्रोध के मनोभाव दबा कर) अच्छा, तुम यहीं मगध की रक्षा करना, मैं जाता हूँ।

सैनिक—हूँ, अच्छा तो यह खड्ग लीजिए, मैं आज से मगध की सेना का नायक नहीं। (खड्ग देता है)

पुरगुप्त—(मद्यप की-सी चेष्टा बनाकर) यह अच्छा किया, आओ मित्र! हम तुम आरम्भ करें। जाने दो इन्हें। इन्हें जाने दो।

अनन्तदेवी—(भटार्क को संकेत करती हुई ले जाती है, और विजया से कहती है) विजया! युवराज का मन बहलाओ।

(सैनिक तिरस्कार की दृष्टि से देखते हुए जाता है। भटार्क और अनन्तदेवी एक ओर, विजया और पुरगुप्त दूसरी ओर जाते हैं।)

(उपवन)

(जयमाला और देवसेना)

जयमाला—तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता! जब तू गाती है, तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है, और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है।

१—सखी—सम्राट् युद्ध-यात्रा में गये हैं और

२—सखी—तो क्या!

देवसेना—तुम सब भी भाभी के साथ मिल गई हो। क्यों भाभी। गाऊँ वह गीत!

जयमाला—मेरी प्यारी! तू गाती है। आहा! बड़ी-बड़ी आँखें तो बरसाती ताल-सी लहरा रही हैं। तू दुखी होती है। ले, मैं जाती हूँ। सखी! तुम सब इसे हँसाओ। (जाती है)

देवसेना—क्या महारानी हार कर गयीं! अब तुम सब क्षुद्र सैनिकों की पारी है! अच्छा तो आओ।

१—सखी—नहीं, राजकुमारी! मैं पूछती हूँ कि सम्राट् ने तुमसे कभी प्रार्थना की थी!

२—सखी—हाँ, तभी तो प्रेम का सुख है!

३—सखी—तो क्या मेरी राजकुमारी स्वयं प्रार्थिनी होंगी! ऊँहूँ!

देवसेना—प्रार्थना किसने की है, यह रहस्य की बात है। क्यों! कहूँ! प्रार्थना हुई है मालव की ओर से, लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है।

१—सखी—न कहो, तब फिर क्या—हरी-हरी कोंपलों की डाली में फूल खिल रहा है—और क्या!

देवसेना—तेरा मुँह काला और क्या! निर्दय होकर आघात मत कर, मर्म बड़ा कोमल है। कोई दूसरी हँसी तुझे नहीं आती!

(मुँह फेर लेती है)

२—सखी—रहस्यभेद ठीक जुआ-सा खेलती है।

देवसेना—क्यों घाव पर नमक छिड़कती हो ? मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है। नीरव जीवन और एकान्त व्याकुलता, कचोटने का सुख मिलता है। जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है।

(आँखों से आँसू बहता है)

१—सखी—है है, क्या तुम रोती हो ! मेरा अपराध क्षमा करो।

देवसेना—(सिसकती हुई) नहीं प्यारी सखी ! आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोल कर रोती हूँ; बस, फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनन्त स्वर्ग का सृजन करेगा।

२—सखी—तुम्हें इतना दुख है, मैं यह कल्पना भी न कर सकी थी।

देवसेना—(सम्हलकर) सखी तू भूलती है। मुझे तो इसी में सुख मिलता है, मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है, मैं उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय-कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं। मैं मन को समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी ! फिर भी मैं इसी झाले कुटुम्ब में गृहस्थी सम्हालकर, स्वस्थ होकर, बैठती हूँ।

३—सखी—आश्चर्य ! राजकुमारी ! तुम्हारे हृदय में एक बरसाती नदी वेग से भरी है।

देवसेना—कूलों में उफन कर बहने वाली नदी, तुमुल तरंग प्रचंड पवन और भयानक वर्षा ! परन्तु उसमें भी नाव चलानी ही होगी।

१—सखी

(गान)

माझी ! साहस है खे लोगे !
जर्जर तरी भरी पथिकों से—
झड़ में क्या खा लोगे !
अलस नील घन की छाया में—
जलजालों की छल-माया में—
अपना पथ तोलोगे !
अनजान तट की मदमाती—
लहरें, क्षितिज चूमती आती !
ये झटके झेलोगे ! माझी—

(भीमवर्मा का प्रवेश)

भीम०—बहिन ! शक-मण्डल से विजय का समाचार आया है !

देवसेना—भगवान् की दया है ।

भीम०—परन्तु, महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त वीरगति को प्राप्त हुए, मर बड़ा !

देवसेना—वे धन्य हैं !

भीम०—वीर-शय्या पर सोते-सोते उन्होंने अनुरोध किया कि महाराज बन्धुवर्मा गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत बनाये जायँ, इसलिए अभी वे स्कन्धावार में रहेंगे । उनका आना अभी नहीं हो सकता । और भी कुछ सुना देवसेना ?

देवसेना—क्या ?

भीम०—सम्राट् ने तुम्हें बचाने के पुरस्कार स्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है । गान्धारवंशी राजा अब वहाँ नहीं है । काश्मीर अब साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया है ।

देवसेना—सम्राट् की महानुभावता है। भाई! मेरे प्राणों का इतना मूल्य!

भीम०—आर्य-साम्राज्य का उद्धार हुआ है। बहिन! सिन्धु के प्रदेश से म्लेच्छ-राज ध्वंस हो गया है। प्रवीर सम्राट् स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है। गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठा कर नहीं देखता। लौहित्य से सिन्धु तक, हिमालय की कन्दराओं में भी, स्वच्छन्दता-पूर्वक सामगान होने लगा। धन्य हैं हम लोग जो इस दृश्य को देखने के लिए जीवित हैं!

देवसेना—मंगलमय भगवान् सब मंगल करेंगे। भाई, साहस चाहिए, कोई वस्तु असम्भव नहीं।

भीम०—उत्तरापथ के सुशासन की व्यवस्था करके परम भट्टारक शीघ्र आवेंगे। मुझे अभी स्नान करना है, जाता हूँ।

देवसेना—भाई! तुम अपने शरीर के लिए बड़े ही निश्चिन्त रहते हो। और कामों के लिए तो

(भीम हँसता हुआ जाता है)

(मुद्गल का प्रवेश)

मुद्गल—जो है सो काशाम करके यह तो अपने से नहीं हो सकता। उहूँ, जब कोई न मिला तो फूटे ढोल की तरह मेरे गले पड़ी!

देवसेना—क्या है मुद्गल!

मुद्गल—यही-यही, सीता की सखी, मन्दोदरी की नानी विजया! कहाँ है मातृगुप्त ज्योतिषी की दुम! अपने को कवि भी लगाता था! मेरी कुण्डली मिलाई था कि मुझे मिट्टी में मिलाया! शाप दूँगा! एक बार! दाँत पीस कर, हाथ उठा कर, शिखा खोलते हुए चाणक्य का लकड़दादा बन जाऊँगा! मुझे इस झंझट में फँसा दिया! उसने क्यों मेरा ब्याह कराया !

देवसेना—तो क्या बुरा किया ?

मुद्गल—माल मारा, जो है सो आराम करके।

देवसेना—अरे ब्याह भी तुम्हारा होता ?

मुद्गल—न होता तो क्या इससे भी बुरा रहता ? बाबा, अब तो मैं इस पर भी प्रस्तुत हूँ कि कोई इसको फेर ले। परन्तु यह हत्या कौन अपने मत्थे चढ़ेगा !

(सब हँसती हैं)

देवसेना—आज कौन-सी तिथि है ? एकादशी तो नहीं है ?

मुद्गल—हाँ, यजमान के घर एकादशी और मेरे पारण की द्वादशी, क्योंकि ठीक मध्याह्न में एकादशी के ऊपर द्वादशी चढ़ बैठती है, उसका गला दबा देती है, पेट पचकने लगता है !

देवसेना—अच्छा, आज तुम्हारा निमन्त्रण है—तुम्हारी स्त्री के साथ।

मुद्गल—जो है सो देवता प्रसन्न हों, आपका कल्याण हो ! फिर शीघ्रता होनी चाहिए। पुण्यकाल बीत न जाय इसलिए मैं उसे बुला लेता हूँ। *(जाता है)*

[सब का प्रस्थान]

[गान्धार की घाटी—रण-क्षेत्र]

(तुरही बजती है, स्कन्दगुप्त और बन्धुवर्मा के साथ सैनिकों का प्रवेश)

बन्धु०—वीरो! तुम्हारी विश्वविजयिनी वीर-गाथा सुर सुन्दरियों की वीणा के साथ मन्द ध्वनि से नन्दन में गूँज उठेगी। असीम साहसी आर्य-सैनिक! तुम्हारे शस्त्र ने बर्बर हूणों को बता दिया है कि रण-विद्या केवल नृशंसता नहीं है। जिनके आतंक से आज विश्वविख्यात रूम साम्राज्य पादाक्रान्त है, उन्हें तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दबे हुए कण्ठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जेय वीर हैं। समझ लो—आज के युद्ध में प्रत्यावर्त्तन नहीं है। जिसे लौटना हो, अभी से लौट जाय।

सैनिक—आर्य्य-सैनिकों का अपमान करने का अधिकार *महाबलाधिकृत को भी नहीं है! हम सब प्राण देने आये हैं,* खेलने नहीं।

स्कन्द०—साधु! तुम यथार्थ ही जननी जन्म-भूमि की सन्तान हो।

सैनिक—राजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय!

(चर का प्रवेश)

चर—परम भट्टारक की जय हो!

स्कन्द०—क्या समाचार है?

चर—देव! हूण शीघ्र ही नदी के पार होकर आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे हैं, परन्तु यदि आक्रमण न हुआ, तो स्वयं आक्रमण करेंगे।

बन्धु०—और कुभा के रणक्षेत्र का क्या समाचार है?

चर—मगध की सेना पर विश्वास करने के लिए मैं न कहूँगा। भटार्क कि दृष्टि में पिशाच की मंत्रणा चल रही है। खिंगिल के दूत भी आ रहे हैं। चक्रपालित उस कूट चक्र को तोड़ देंगे कि नहीं, इसमें सन्देह है।

स्कन्द०—बन्धुवर्मा! तुम कुभा के रणक्षेत्र की ओर जाओ, मैं यहाँ देख लूँगा।

बन्धु०—राजाधिराज! मगध की सेना पर अधिकार रखना मेरे सामर्थ्य के बाहर होगा, और मालव की सेना आज नासीर में है। आज इस नदी की तीक्ष्ण धारा को लाल करके बहा देने की मेरी प्रतिज्ञा है। आज मालव का एक भी सैनिक नासीर-सेना से न हटेगा।

स्कन्द०—बन्धुवर्मा! यह यश मुझसे मत छीन लो।

बन्धु०—परन्तु सबके प्राण देने के स्थान भिन्न हैं। यहाँ मालव की सेना मरेगी, दूसरे को यहाँ मार कर अधिकार जमाने का अधिकार नहीं। और बन्धुवर्मा मरने-मारने में जितना पटु है, उतना पर्यंक तोड़ने में नहीं। आपके रहने से ही बन्धुवर्मा उत्पन्न होंगे। आप शीघ्रता कीजिए।

स्कन्द०—बन्धुवर्मा! तुम बड़े कठोर हो।

बन्धु०—शीघ्रता कीजिए। यहाँ हूणों को रोकना मेरा ही कर्त्तव्य है उसे मैं ही करूँगा। महाबलाधिकृत का अधिकार मैं न छोड़ूँगा। चक्रपालित वीर है, परन्तु अभी वह नवयुवक है, आपका वहाँ पहुँचना आवश्यक है। भटार्क पर विश्वास न कीजिए।

स्कन्द०—मैंने समझा कि हूणों के सम्मुख वह विश्वासघात न करेगा।

बन्धु०—ओह! जिस दिन ऐसा हो जायगा, उस दिन को भी इधर आँख उठाकर न देखेगा। सम्राट्! शीघ्रता कीजिए।

स्कन्द०—(*आलिंगन करता है*) मालवेश की जय!

बन्धु०—राजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय!

(*चर के साथ स्कन्दगुप्त जाते हैं*)

[नेपथ्य में रणवाद्य। शत्रु-सेना आती है। हूणों की सेना से विकट युद्ध। हूणों का मरना, घायल होकर भागना। बन्धुवर्मा की अन्तिम अवस्था, गरुड़ध्वज टेक कर उसे चूमना]

बन्धु—(*दम तोड़ते हुए*) विजय! तुम्हारी विजय! आर्य्य-साम्राज्य की जय!

सब—आर्य-साम्राज्य की जय!

बन्धु—भाई! स्कन्दगुप्त से कहना कि मालव-वीर ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की, भीम और जयमाला उनकी शरण हैं।

सैनिक—महाराज! आप क्या कहते हैं (*सब शोक करते हैं*)

बन्धु०—बन्धुगण! यह शोक का नहीं, आनन्द का समय है। कौन वीर इसी तरह जन्म-भूमि की रक्षा में प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखने आता हूँ।

सैनिक—महाराज बन्धुवर्मा की जय!

(*गरुड़ध्वज की छाया में बन्धुवर्मा की मृत्यु*)

[दुर्ग के सम्मुख कुभा का रणक्षेत्र , चक्रपालित और स्कंदगुप्त]

चक्र०— सम्राट् ! प्रतारणा की पराकाष्ठा ! दो दिन से जान-बूझ कर शत्रु को उस ऊँची पहाड़ी पर जमने का अवकाश दिया जा रहा है । आक्रमण करने से मैं रोका जा रहा हूँ। समस्त मगध की सेना उसके संकेत पर चल रही है ।

स्कन्द०—चक्र ! कुभा में जल बहुत कम है, आज ही उतरना होगा । तुम्हें दुर्ग में रहना चाहिए । मैं भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं , परन्तु उस पर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नहीं रहा ।

चक्र०—नहीं सम्राट् ! उसे बन्दी कीजिए । वह देखिए—आ रहा है ।

भटार्क—(प्रवेश करके) राजाधिराज की जय हो !

स्कन्द०—क्यों सेनापति ! यह क्या हो रहा है !

भटार्क—आक्रमण की प्रतीक्षा सम्राट् !

स्कन्द०—या समय की !

भटार्क—सम्राट् का मुझपर विश्वास नहीं है, यह

चक्र०—विश्वास तो कहीं से क्रय नहीं किया जाता ।

भटार्क—तुम अभी बालक हो ।

चक्र०—दुराचारी ! कृतघ्न ! अभी मैं तेरा कलेजा फाड़ खाता , तेरा !

भटार्क—सावधान ! अब मैं सहन नहीं कर सकता !

(तलवार पर हाथ रखता है)

स्कन्द०—भटार्क ! यह बालक है। कूटमंत्रणा, वाक्चातुरी नहीं जानता । चुप रहो चक्र !

(चक्रपालित और भटार्क सिर नीचा कर लेते हैं)

स्कन्द०—भटार्क ! प्रवंचना का समय नहीं है । स्मरण

रखना—कृतघ्न और नीचों की श्रेणी में तुम्हारा नाम पहले रहेगा।

(भटार्क चुप रह जाता है)

स्कन्द०—युद्ध के लिए प्रस्तुत हो?

भटार्क—मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा।

स्कन्द०—अच्छा तो अपनी सेना लेकर तुम गिरिसंकट पर पीछे से आक्रमण करो और सामने से मैं आता हूँ। चक्र! तुम दुर्ग की रक्षा करो।

भटार्क—जैसी आज्ञा। नगरहार के स्कन्धावार को भी सहायता के लिए कहला दिया जाय तो अच्छा हो।

स्कन्द०—चर गया है। तुम शीघ्र जाओ। देखो—सामने शत्रु दीख पड़ते हैं।

(भटार्क का प्रस्थान)

चक्र०—तो मैं बैठा हूँ।

स्कन्द०—भविष्य अच्छा नहीं है चक्र! नगरहार से समय पर सहायता पहुँचती नहीं दिखाई देती। परन्तु, यदि आवश्यकता हो, तो शीघ्र नगरहार की ओर प्रत्यावर्तन करना। मैं वहीं तुमसे मिलूँगा।

(चर का प्रवेश)

स्कन्द०—गान्धार-युद्ध का क्या समाचार है?

चर—विजय। उस रणक्षेत्र में हूण नहीं रह गये, परन्तु सम्राट् बन्धुवर्मा नहीं हैं!

स्कन्द०—आह बन्धु! तुम चले गये? धन्य हो वीर-हृदय!

(शोकमुद्रा से बैठ जाता है)

चक्र०—इसका समय नहीं है सम्राट् उठिए, सेना आ रही है, इस समय यह समाचार नहीं प्रचारित करना है।

स्कन्द०—(उठते हुए) ठीक कहा।

(भटार्क के साथ सेना का प्रवेश)

स्कन्द०—देखो, कुभा के उस बाँध से सावधान रहना। आक्रमण में यदि असफलता हो और शत्रु की दूसरी सेना कुभा को पार करना चाहे, तो उसे काट देना। देखो भटार्क! तुम्हारे विश्वास का यही प्रमाण है।

भटार्क—जैसी आपकी आज्ञा।

(कुछ सैनिकों के साथ जाता है)

स्कन्द०—चक्र! दुर्ग-रक्षक सैनिकों को लेकर तुम प्रतीक्षा करना। हम इसी छोटी-सी सेना से आक्रमण करेंगे। तुम सावधान! (नेपथ्य में रणवाद्य) देखो—वह हूण आ रहे हैं! उन्हें यहीं रोकना होगा।

चक्र०—जैसी आज्ञा। (जाता है)

स्कन्द०—और मगध-सैनिको! आज स्कन्दगुप्त तुम्हारी परिचालना कर रहा है, यह ध्यान रहे, गरुड़ध्वज का मान रहे, भले ही प्राण जायँ।

मगध-सेना—राजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय!

(सेना बढ़ती है उधर से अस्त्रवर्षा होती है, घोर युद्ध के बाद हूण भागते हैं। साम्राज्य-सेना जय-जयनाद करते हुए, शिविर पर अधिकार करती है।)

नायक—(ऊपर देखता हुआ) सम्राट्! आश्चर्य है, भागी हुई हूण-सेना कुभा के उस पार उतर जाना चाहती है!

स्कन्द०—क्या कहा!

नायक—कुछ मगध-सेना भी वहाँ है, परन्तु वह तो प्रेम से उनका स्वागत कर रही है!

स्कन्द०—विश्वासघात! प्रतारणा! नीच भटार्क!

नायक—फिर क्या आज्ञा है?

स्कन्द०—दुर्ग की रक्षा होनी चाहिए। उस पार की हूण-सेना यदि आ गई, तो कृतघ्न भटार्क उन्हें मार्ग बतावेगा। धीरो, शीघ्र उन्हें उसी पार रोकना होगा। अभी कुभा पार होने की सम्भावना है।

(नायक तुरही बजाता है, सैनिक इकट्ठे होते हैं)

स्कन्द०—(घबराहट से देखते हुए) शीघ्रता करो!

नायक—क्या!

स्कन्द०—नीच भटार्क ने बाँध तोड़ दिया है, कुभा में जल बड़े वेग से बढ़ रहा है। चलो शीघ्र—

(सब उतरना चाहते हैं, कुभा में अकस्मात् जल बढ़ जाता है। सब बहते हुए दिखाई देते हैं।)

[अन्धकार]

चतुर्थ अंक

[प्रकोष्ठ]

(विजया और अनन्त देवी)

अनन्त०—क्या कहा?

विजया—मैं आज ही पासा पलट सकती हूँ। जो झूला ऊपर उठ रहा है, उसे एक ही झटके में पृथ्वी चूमने के लिए विवश कर सकती हूँ।

अनन्त०—क्यों! इतनी उत्तेजना क्यों है! सुनूँ भी तो।

विजया—समझ जाओ।

अनन्त०—नहीं स्पष्ट कहो।

विजया—भटार्क मेरा है।

अनन्त०—तो!

विजया—उस पथ से दूसरों को हटना होगा।

अनन्त०—कौन छीन रहा है?

विजया—एक पाप-पंक फँसी हुई निर्लज्ज नारी। क्या उसका नाम भी बताना होगा? समझो नहीं तो साम्राज्य का स्वप्न गला दबा कर भंग कर दिया जायगा।

अनन्त०—(हँसती हुई) मूर्ख रमणी! तेरा भटार्क केवल मेरे कार्य-साधन का यन्त्र है, और कुछ नहीं। वह पुरगुप्त के ऊँचे सिंहासन की सीढ़ी है, समझी!

विजया—समझी; और तुम भी जान लो कि तुम्हारा नाश समीप है।

अनन्त०—(बनाती हुई) क्या तुम पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर नहीं बैठना चाहती हो ? क्यों — वह भी तो कुमारगुप्त का पुत्र है ?

विजया—हाँ, वह कुमारगुप्त का पुत्र है, परन्तु वह तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न है । तुमसे उत्पन्न कुल सन्तान—छि !

अनन्त०—क्या कहा ! समझ कर कहना ।

विजया—कहती हूँ, और फिर कहूँगी । प्रलोभन से, धमकी से, भय से, कोई भी मुझको मर्यादा से नहीं वञ्चित कर सकता । प्रणय-वञ्चिता स्त्रियाँ अपनी राह को रोड़े- विघ्नों—को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं । हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से बीभत्स, और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार होती है । मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिए । क्षुद्र पुरगुप्त के विलास-जर्जर मन और यौवन में ही जीर्ण शरीर का अवलम्ब वाञ्छनीय नहीं । कहे देती हूँ, हट जाओ, नहीं तो तुम्हारी समस्त कुमंत्रणाओं को एक फूँक में उड़ा दूँगी !

अनन्त०—क्या ? इतना साहस ! तुच्छ स्त्री ! तू जानती है कि किसके साथ बात कर रही है ? मैं वही हूँ—जो अश्वमेध-पराक्रम कुमारगुप्त से, बालों को सुगन्धित करने के लिए गन्धचूर्ण जलवाती थी—जिसकी एक तीखी कोर से गुप्त-साम्राज्य डाँवाडोल हो रहा है, उस तुम एक सामान्य स्त्री ! जा-जा, तू अपने मर्यादे को, मुझे ऐसे कीट-पतंगों की आवश्यकता नहीं । परन्तु स्मरण रखना, मैं हूँ अनन्तदेवी ! तेरी कूटनीति के कंटकित कानन की दावाग्नि—तेरे गर्व-शैलशृंग का वज्र ! मैं वह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे !

(जाती है)

विजया—मैं कहीं की न रही! इधर भयानक पिपासा की जलती भूमि, उधर गम्भीर समुद्र! दुर्बल रमणी-हृदय थोड़ी आँच में गरम और शीतल हाथ फेरते ही ठंडा! क्रोध से अपने आत्मीय जनों पर फिर उबल देना! जिनको क्षमा की आवश्यकता है—जिन्हें स्नेह का पुरस्कार की भीख है उनको भूल पर कठोर तिरस्कार और जो पराये हैं, उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति! यह मन का विष पर चलने वाले हृदय की क्षुद्रता है। ओह! जब हम धनवान लोगों को भूल और दुःखों पर क्षमा या सहानुभूति प्रकट करते हैं तो भूल जाते हैं कि यहाँ मेरा स्वार्थ नहीं है। क्षमा और उदारता वहीं सजती है, जहाँ की भी शक्ति हो। अपना अतुल धन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर मैं—कहाँ! किधर—(उन्मत्तभाव से प्रस्थान करना चाहती है)

(पदच्युत नायक का प्रवेश)

नायक—शान्त हो।

विजया—कौन?

नायक—एक सैनिक?

विजया—दूर हो, मुझे सैनिकों से घृणा है।

नायक—क्यों सुन्दरी?

विजया—क्रूर! केवल अपने झूठे मान के लिए, बनावटी आडम्बर के लिए, अपना दम्भ दिखलाने के लिए, एक अनिर्दिष्ट हृदय का लोहे से लड़ना विडम्बना है! किसकी रक्षा, किस दीन की सहायता के लिए तुम्हारा शस्त्र है?

नायक—साम्राज्य की रक्षा के लिए।

विजया—झूठ! तुम लोगों को जंगली हिंस्र पशु होकर जन्म लेना था। डाकू! थोड़े-से ठीकरों के लिए अमूल्य मानव जीवन का नाश करनेवाले भयानक भेड़िए!

नायक—(स्वगत) पागल हो गई है क्या?

विजया—स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमंड से तुच्छ समझा, देव-तुल्य स्कन्दगुप्त से विद्रोह किया, किस लिए? केवल अपना रूप, धन, यौवन दूसरे को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिए! स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर खो दिया—इस लोक का सुख, उस लोक की शान्ति! आह!

नायक—शान्त हो!

विजया—शान्ति कहाँ! अपनों को दंड देने के लिए मैं स्वयं उनसे अलग हुई, उन्हें दिखाने के लिए—'मैं भी कुछ हूँ'! अपनी भूल थी, उसे अभिमान से उनके सिर दोष के रूप में मढ़ रक्खा था। उन पर झूठा अभियोग लगाकर, नीच-हृदय को नित्य ऊँचे किया कर रही थी। अब उसका फल मिला!

नायक—रमणी! भूला हुआ लौट आता है, खोया हुआ मिल जाता है, परन्तु जो जान-बूझकर भूलभुलैया तोड़ने के अभिमान से उसमें घुसता है, वह उसी चक्रव्यूह में स्वयं मरता है, दूसरों को भी मारता है। शान्ति का—कल्याण का—मार्ग उन्मुक्त है। द्रोह को छोड़ दो, स्वार्थ को विस्मृत करो, सब तुम्हारा है।

विजया—(सिसकती हुई) मैं अनाथ निस्सहाय हूँ!

नायक—(बनावटी रूप उतारता है) मैं शर्वनाग हूँ। मैं सम्राट् का अनुचर हूँ। मगध की परिस्थिति देख कर अपने विषय अन्तर्वेद को लौट रहा हूँ।

विजया—क्या अन्तर्वेद के विषयपति शर्वनाग?

शर्व०—हाँ, परन्तु देश पर एक भीषण आतंक है। मगध की पिशाच लीला सफल होना चाहती है। विजया! चलो, देश के प्रत्येक बच्चे, बूढ़े और युवक को उसकी भलाई में लगाना

होगा, कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना होगा। आओ, यदि हम राजसिंहासन न प्रस्तुत कर सकें, तो हमें अधीर न होना चाहिए। हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ू देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलनेवाले राजमार्ग का सुख पावें।

विजया—(कुछ सोचकर) तुमने सच कहा। सब को कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। चलो—।

[दोनों का प्रस्थान]

[भटार्क का शिविर]

(नर्तकी गाती है)

भाव-निधि में लहरियाँ उठतीं तभी
भूल कर भी जब स्मरण होता कभी।
मधुर मुरली फूँक दी तुमने भला,
नींद मुझको आ चली थी बस अभी।
सब रगों में फिर रही हैं बिजलियाँ,
नील नीरद! क्या न बरसोगे कभी।
एक झोंका और मलयानिल अहा!
क्षुद्र कलिका है खिली जाती, अभी।
कौन मर-मर कर जियेगा इस तरह,
यह समस्या हल न होगी क्या कभी!

(कमला और देवकी का प्रवेश)

देवकी—भटार्क! कहाँ है मेरा सर्वस्व! बता दे—मेरे आनन्द का उत्सव, मेरी आशा का सहारा, कहाँ है!

भटार्क—कौन!

कमला—कृतघ्न! नहीं पहचानता है, यह वही देवी हैं—जिन्होंने तेरे नारकीय अपराध को क्षमा किया था—जिन्होंने तुझ-से घिनौने कीड़े को भी मरने से बचाया था, वही, वही, देव प्रतिमा महादेवी देवकी।

भटार्क—(पहचानकर) कौन! मेरी माँ!

कमला—तू कह सकता है। परन्तु मुझे तुझको पुत्र कहने में संकोच होता है, लज्जा से गड़ी जा रही हूँ! जिस जननी की संतान—जिसका अभागा पुत्र—ऐसा देशद्रोही हो, उसको क्या मुँह दिखाना चाहिए! आह भटार्क!

भटार्क—राजमाता और मेरी माता!

देवकी—क्या भटार्क ! वह आर्य्यावर्त्त का रत्न कहाँ है ! देश का बिना दाम का सेवक, वह जन-साधारण के हृदय का स्वामी कहाँ है ! उससे शत्रुता करते हुए तुझे...

कमला—बोल रे भटार्क !

भटार्क—क्या कहूँ, कुभा की क्षुब्ध लहरों से पूछो, हिमवान की गल कर आनेवाली नदियों से पूछो कि वह कहाँ है। मैं नहीं...

देवकी—आह ! क्या मेरा स्कन्द !! मेरा प्राण !!!

(गिरती है, मृत्यु ।)

कमला—(*उसे सम्हालती हुई*) देख पिशाच ! एक बार अपनी विजय पर प्रसन्नता से खिलखिला ले। नीच ! पुरुष-प्रतिमा को, स्त्रियों की गरिमा को, धूल में लोटता हुआ देख कर, एक बार हृदय खोल कर हँस ले। हा देवी !

भटार्क—क्या ! (*भयभीत होकर देखता है*)

कमला—इस यंत्रणा और मन्त्रणा से भरे हुए संसार की पिशाच भूमि को छोड़ कर अक्षय लोक को गईं, और तू जीता रहा—सुखी घरों में आग लगाने, हाहाकार मचाने और देश को अनाथ बनाकर उसकी दुर्दशा करने के लिए—नरक के कीड़े ! तू जीता रहा !!

भटार्क—मा, अधिक न कहो। साम्राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करने का मेरा उद्देश्य नहीं था, केवल पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठाने की प्रतिज्ञा से प्रेरित होकर मैंने यह किया। स्कन्दगुप्त न रहा, पुरगुप्त सम्राट् होगा।

कमला—अरे मूर्ख ! अपनी क्षुद्र बुद्धि को सत्य मान कर, उसके दर्प में भूल कर, मनुष्य कितना बड़ा अपराध कर सकता है ! पामर ! तू सम्राटों का नियामक बन गया ! मैंने भूल की, सूतिका गृह में ही तेरा गला घोंट कर क्यों न मार डाला ! आत्महत्या के अतिरिक्त अब और कोई प्रायश्चित्त नहीं।

भटार्क—माँ, क्षमा करो। आज से मैंने शस्त्र-त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा। *(तलवार डाल देता है)*

कमला—तूने विलम्ब किया भटार्क! महादेवी! एक दिन जिसके नाम पर गुप्त-साम्राज्य नतमस्तक होता था, आज उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया के लिए कोई उपाय नहीं! हा दुर्दैव!

भटार्क—*(ताली बजाता है, सैनिक आते हैं)* महादेवी की अन्त्येष्टि क्रिया राजसम्मान से होनी चाहिए। चलो, शीघ्रता करो!

(देवकी के शव को एक ऊँचे स्थान पर दोनों मिल कर रखते हैं)

कमला—भटार्क! इस पुण्यचरण के स्पर्श से, सम्भव है, तेरा पाप छूट जाय।

[भटार्क और कमला पर तीव्र आलोक]

[काश्मीर]

(न्यायाधिकरण में मातृगुप्त)

(एक स्त्री और दण्डनायक)

मातृगुप्त—नन्दीग्राम के दण्डनायक देवनन्द ! यह क्या है ?

देवनन्द—कुमारामात्य की जय हो ! बहुत परिश्रम करने पर भी मैं इस रमणी के अपहृत धन का पता न लगा सका। इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है।

मातृगुप्त—फिर किसका है ? तुम गुप्त-साम्राज्य का विधान भूल गये ! प्रजा की रक्षा के लिए 'कर' लिया जाता है। यदि तुम उसकी रक्षा न कर सके, तो वह अर्थ तुम्हारी वृत्ति से कट कर इस रमणी को मिलेगा।

देवनन्द—परन्तु वह इतना अधिक है कि मेरी जीवन-भर की वृत्ति से भी उसका भरना असम्भव है।

मातृगुप्त—तब राज-कोष उसे देगा और तुम उसका दण्ड भोगोगे।

देवनन्द—परन्तु मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ, इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है। यह श्रीनगर की सब से अधिक समृद्धिशालिनी वेश्या है। यह अपने अन्तरंग लोगों का परिचय भी नहीं बताती, फिर मैं कैसे पता लगाऊँ ! गुप्तचर भी थक गये।

मातृगुप्त—हाँ, इसका नाम मैं भूल गया।

देवनन्द—मालिनी।

मातृगुप्त—क्या ! मालिनी ! *(कुछ सोचता हुआ)* अच्छा, जाओ, कोषाध्यक्ष को भेज दो।

(देवनन्द का प्रस्थान)

मातृगुप्त—मालिनी ! अवगुण्ठन हटाओ, सिर ऊँचा करो, मैं अपना भ्रम निवारण करना चाहता हूँ।

(अवगुंठन हटा कर मालिनी मातृगुप्त की ओर देखती है, मातृगुप्त चकित होकर उसको देखता है ।)

मातृगुप्त—तुम कौन हो—मालिनी ! छलना ! नहीं-नहीं, भ्रम है !

मालिनी—नहीं मातृगुप्त, मैं ही हूँ । अवगुण्ठन केवल इसीलिए था कि मैं तुम्हें मुख नहीं दिखला सकती थी । मातृगुप्त ! मैं वही हूँ ।

मातृगुप्त—तुम ! नहीं मेरी मालिनी ! मेरे हृदय की आराध्य देवता—वेश्या ! असम्भव । परन्तु नहीं वही है मुख । यद्यपि विलास ने उस पर अपनी मलिन छाया डाल दी है—उस पर अपने अभिशाप की छाप लगा दी है, पर तुम वही हो । हा दुर्दैव !

मालिनी—दुर्दैव ।

मातृगुप्त—मैं आज तक तुम्हें पूजता था । तुम्हारी पवित्र स्मृति को कंगाल की निधि की भाँति छिपाये रहा । मूर्ख मैं आह मालिनी ! मेरे शून्य मानसाकाश के मन्दिर का द्वार खोल कर तुम्हीं ने उनींदी उषा के समान झाँका था, और मेरे भिखारी संसार पर स्वर्ण बिखेर दिया था । तुम्हीं मालिनी ! तुमने सोने के लिए नन्दन का अम्लान कुसुम बेच डाला । जाओ मालिनी ! राज-कोष से अपना धन ले लो ।

मालिनी—*(मातृगुप्त के पैरों पर गिरती हुई)* एक बार क्षमा कर दो मातृगुप्त !

मातृगुप्त—मैं इतना क्रूर नहीं हूँ मालिनी कि तुम्हें इस अपराध के कारण भूल जाऊँ । पर वह स्मृति दूसरे प्रकार की होगी । उसमें ज्वाला न होगी । धुँआ उठेगा और तुम्हारी मूर्ति धुँधली होकर सामने आवेगी । जाओ !

(मालिनी का प्रस्थान, धर का प्रवेश)

चर—कुमारामात्य की जय हो!

मातृगुप्त—क्या समाचार है? सम्राट् का पता लगा?

चर—नहीं। पञ्चनद हूणों के अधिकार में है, और वे काश्मीर पर भी आक्रमण किया चाहते हैं।

मातृगुप्त—जाओ।

(चर का प्रस्थान)

मातृगुप्त—लो सब गया! मेरी कल्पना के सुन्दर स्वप्नों का प्रभात हो रहा है। नाचती हुई नीहार-कणिकाओं पर तीव्र किरणों के भाले! ओह! सोचा था कि देवता जागेंगे, एक बार आर्य्यावर्त में गौरव का सूर्य चमकेगा और पुण्य-कर्मों से समस्त पाप-पंक धुल जायँगे, हिमालय से निकली हुई सप्तसिंधु तथा गंगा यमुना की घाटियाँ, किसी आर्य्य सद्गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आँगन-सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर सन्तुष्ट करेंगी; और आर्य्यजाति अपने दृढ़ सबल हाथों में शस्त्र-ग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का तिरस्कार करती हुई, अचल हिमालय की भाँति सिर ऊँचा किए, विश्व को सदाचरण के लिए सावधान करती रहेगी, आलस्य-सिन्धु में शेष-पर्य्यंक-शायी सुषुप्तिनाथ जागेंगे, सिन्धु में हलचल होगी, रत्नाकर से रत्नराजियाँ आर्य्यावर्त की वेला-भूमि पर निछावर होंगी। उद्बोधन के गीत गाये, हृदय के उद्गार सुनाए, परन्तु गला फाड़ कर भी न जगाया! प्रवीर उदार हृदय स्कन्दगुप्त, कहाँ है! तब, काश्मीर! तुझसे विदा!

[प्रस्थान]

[मगध प्रान्त में पथ]

(धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति)

प्रख्यात०—प्रिय बन्धु ! आज तुम्हें आये तीन दिन हुए, क्या सिंहल का राज्य तुम्हें भारत-पर्यटन के सामने तुच्छ प्रतीत होता है ?

धातुसेन—भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है। अनादि-काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वसुन्धरा का हृदय—भारत—किस मूर्ख को प्यारा नहीं है ? तुम देखते नहीं कि विश्व का सब से ऊँचा शृंग इसके सिरहाने, और सब से गम्भीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है ? एक-से-एक सुन्दर दृश्य प्रकृति ने अपने इस घर में चित्रित कर रक्खा है। भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है। किन्तु देखता हूँ, बौद्ध जनता और संघ भी साम्राज्य के विरुद्ध हैं। महाबोधि-विहार के संघ-महास्थविर ने निर्वाण-लाभ किया है, उस पद के उपयुक्त भारत-भर में केवल प्रख्यातकीर्ति हैं। तुमसे संघ की मलिनता बहुत कुछ धुल जायगी।

प्रख्यात०—राजमित्र ! मुझे क्षमा कीजिए। मैं धर्म-लाभ करने के लिए भिक्षु हुआ हूँ, महास्थविर बनने के लिए नहीं।

धातुसेन—मित्र ! मैं मातृगुप्त से मिलना चाहता हूँ।

प्रख्यात०—वह तो विरक्त होकर घूम रहा है।

धातुसेन—तुमको मेरे साथ काश्मीर चलना होगा।

प्रख्यात०—पर अभी तो कुछ दिन ठहरोगे ?

धातुसेन—जहाँ तक सम्भव हो, शीघ्र चलो।

(एक भिक्षु का प्रवेश)

भिक्षु—आचार्य ! महान् अनर्थ !

प्रख्यात०—क्या है! कुछ कहो भी।

भिक्षु—विहार के समीप जो चतुष्पथ का चैत्य है, वहाँ कुछ ब्राह्मण बलि किया चाहते हैं। इधर भिक्षु और बौद्ध जनता उत्तेजित है।

धातु०—चलो, हम लोग भी चलें, उन उत्तेजित लोगों को शान्त करने का प्रयत्न करें।

[सब जाते हैं]

[बिहार के समीप चतुष्पथ। एक ओर ब्राह्मण लोग बलि का उपकरण लिए दूसरी ओर भिक्षु और बौद्ध जनता उत्तेजित। दंडनायक का प्रवेश]

दंडनायक—नागरिकगण! यह समय अन्तर्विद्रोह का नहीं है। देखते नहीं हो कि साम्राज्य बिना कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है, और तुम लोग क्षुद्र बातों के लिए परस्पर झगड़ते हो।

ब्राह्मण—इन्हीं बौद्धों ने गुप्त शत्रु का काम किया है। कई बार के विताड़ित हुए इन्हीं लोगों की सहायता से पुनः आये हैं। इन गुप्त शत्रुओं को कृतघ्नता का उचित दंड मिलना चाहिए।

श्रमण—ठीक है। गंगा, यमुना और सरयू के तट पर गड़े हुए यूप सद्धर्मियों की छाती में ठुके हुए कीलों की तरह अब भी खटकते हैं। हम लोग निस्सहाय थे, क्या करते। विधर्मी विदेशी की शरण में भी यदि प्राण बच जायें और धर्म की रक्षा हो। राष्ट्र और समाज मनुष्य के द्वारा बनते हैं—उन्हीं के सुख के लिए। जिस राष्ट्र और समाज से हमारी सुख-शान्ति में बाधा पड़ती हो, उसका हमें तिरस्कार करना ही होगा। इन संस्थाओं का उद्देश्य है—मानवों की सेवा। यदि वे हमीं से अवैध सेवा लेना चाहें और हमारे कष्टों को न हटावें, तो हमें उनकी सीमा के बाहर जाना ही पड़ेगा।

ब्राह्मण—ब्राह्मणों को इतनी हीन अवस्था में बहुत दिनों तक विश्वनियन्ता नहीं देख सकता। जो जाति विश्व के मस्तिष्क का शासन करने का अधिकार लिये उत्पन्न हुई है, वह कभी चरणों के नीचे न बैठेगी। आज यहीं बलि होगी—हमारे धर्माचरण में स्वयं विधाता भी बाधा नहीं डाल सकते।

श्रमण—निरीह प्राणियों के वध में कौन-सा धर्म है, ब्राह्मण?

तुम्हारी इसी हिंसा-नीति और अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन तथागत ने किया था। उस समय तुम्हारा ज्ञान-गौरव कहाँ था? क्यों नतमस्तक होकर समग्र जम्बूद्वीप ने उस ज्ञान रणभूमि के प्रधान मल्ल के समक्ष हार स्वीकार की? तुम हमारे धर्म पर अत्याचार किया चाहते हो, यह नहीं हो सकेगा। इन पशुओं के बदले हमारी बलि होगी। रक्त-पिपासु दुर्दान्त ब्राह्मणदेव! तुम्हारी पिपासा हम अपने रुधिर से शान्त करेंगे।

धातुसेन—(प्रवेश करके) अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी? उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त, मध्यमा-प्रतिपदा के नाम से, संसार में प्रचारित हुआ; व्यक्तिरूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। वह एक सुधार था, उसके लिए रक्तपात क्यों?

दण्डनायक—ठहरो, यदि ये हठी लोग कुछ तुम्हारे समझाने से मान जायँ, अन्यथा यहाँ बलि न होने दूँगा।

ब्राह्मण—क्यों न होने दोगे? अधार्मिक शासक! क्यों न होने दोगे? आज गुप्त कुचक्रों से गुप्तसाम्राज्य शिथिल है। कोई क्षत्रिय राजा नहीं जो ब्राह्मण के धर्म की रक्षा कर सके—जो धर्माचरण के लिए अपने राजकुमारों को तपस्वियों की रक्षा में नियुक्त करे। आह धर्मदेव! तुम कहाँ हो?

धातुसेन—भरतसिंधु-प्रदेश नृशंस हूणों से पदाक्रान्त है। जाति भीत और त्रस्त है और उसका धर्म असहाय अवस्था में पैरों से कुचला जा रहा है। क्षत्रिय राजा, धर्म का पालन कराने वाला राजा, पृथ्वी पर क्यों नहीं रह गया? ब्राह्मण इस विचारा है? क्यों ब्राह्मण टुकड़ों के लिए अन्य लोगों की उपजीविका

छीन रहे हैं? क्यों एक धर्म के लोग दूसरों की धमकारी हस्तियाँ ध्वस्त करने लगे हैं? लोभ ने तुम्हारे धर्म का व्यवसाय चला दिया। दक्षिणाओं की योग्यता से—स्वर्ग, पुत्र, धन, यश, विजय और मोक्ष तुम बताने लगे। कामना से धर्मी जनता का विलासी-समुदाय के ढोंग के लिए तुम्हारा धर्म व्यापार हो गया है। जिस धर्म के आचरण के लिए पुष्कल स्वर्ण चाहिए, वह धर्म जन साधारण की सम्पत्ति नहीं! धर्म वृक्ष के चारों ओर स्वर्ण के कँटिदार बाढ़ लगाए गए! और व्यवसाय की ज्वाला से वह दग्ध हो रहा है। जिन धनवानों के लिए तुमने धर्म को सुरक्षित रक्खा, उन्होंने समझा कि धर्म धन से खरीदा जा सकता है, इसलिए धनोपार्जन मुख्य हुआ और धर्म गौण। जो पारस्य देश की मूल्यवान् मदिरा रात को पी सकता है, वह धार्मिक बने रहने के लिए प्रभात में एक गो निष्क्रय भी कर सकता है। धर्म को बचाने के लिए तुम्हें राजशक्ति की आवश्यकता हुई। धर्म इतना निर्बल है कि वह पाशव बल के द्वारा सुरक्षित होगा!

ब्राह्मण—तुम कौन हो? मूर्ख उपदेशक! हट जाओ। तुम नास्तिक प्रच्छन्न बौद्ध! तुमको अधिकार क्या है कि हमारे धर्म की व्याख्या करो?

धातुसेन—ब्राह्मण क्यों महान् है? इसीलिए कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति हैं। इसी के बल पर बड़े-बड़े सम्राट् उनके आश्रमों के निकट निरस्त्र होकर जाते थे, और वे तपस्वी उञ्छ और अमृत वृत्ति में जीवन-निर्वाह करते हुए सायं प्रात: अग्निशाला में भगवान् से प्रार्थना करते थे—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥

—आप लोग उन्हीं आर्यों की सन्तान हैं, जिन्होंने अनेक यज्ञों को एक बार ही बन्द कर दिया था। उनका धर्म समय अनुकूल प्रत्येक परिवर्तन को स्वीकार करता है, क्योंकि मानव बुद्धि ज्ञान का—जो वेदों के द्वारा हमें मिला है—प्रस्तार करेगी, उसके विकास के साथ बढ़ेगी, और यही धर्म की श्रेष्ठता है।

प्रख्यातकीर्ति—धर्म के अन्धभक्तो ! मनुष्य अपूर्ण है। इसलिए सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की वृद्धि असम्भव हो जाय। प्रत्येक प्रचारक को कुछ-न-कुछ प्राचीन असत्य-परम्पराओं का आश्रय इसी से ग्रहण करना पड़ता है। सभी धर्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार, विवृत हो रहे हैं और होंगे। हम लोगों को हठधर्मी से उन आगन्तुक क्रमिक पूर्णता प्राप्त करनेवाले ज्ञानों से मुँह न फेरना चाहिए। हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखायें हैं। आओ, हम दोनों अपने उदार विचार के फूलों से दुःख-दग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करें।

बहुत-से लोग—ठीक तो है, ठीक तो है, हम लोग व्यर्थ आपस में ही झगड़ते हैं और आततायियों को देख कर घर में घुस जाते हैं। दुष्टों के सामने तलवारें लेकर इसी तरह क्यों नहीं अड़ जाते !

दंडनायक—यही तो बात है नागरिक !

प्रख्यातकीर्ति—मैं इस विहार का आचार्य हूँ, और मेरी सम्मति धार्मिक झगड़ों में बौद्धों को माननी चाहिए। मैं जानता हूँ कि भगवान् ने प्राणिमात्र को बराबर बनाया है, और जीव-रक्षा इसीलिए धर्म है। किन्तु जब तुम लोग स्वयं इसके लिए युद्ध

करोगे, तो हत्या की संख्या बढ़ती ही। अब यदि तुममें कोई सच्चा धार्मिक हो तो वह आगे आवे, और ब्राह्मणों से पूछे कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवों को छोड़ सकते हैं। क्योंकि इन पशुओं से मनुष्यों का मूल्य ब्राह्मणों की दृष्टि में भी विशेष होगा। आइये, कौन आता है, किसे बोधिसत्व होने की इच्छा है।

(बौद्धों में से कोई नहीं हिलता)

प्रख्यात०—(हँसकर) यही आपका धर्मोन्माद था! एक युद्ध करनेवाली मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अधम करना और धर्माचरण की दुन्दुभी बजाना—यही आपकी करुणा की सीमा है! जाइये, घर लौट जाइए। (ब्राह्मण से) आओ एक निरीह धार्मिक! लो, मेरा उपहार देकर अपने देवता को सन्तुष्ट करो! (सिर झुका लेता है)

ब्राह्मण—(तलवार फेंककर) धन्य हो महाश्रमण! मैं नहीं जानता था कि तुम्हारे ऐसे धार्मिक भी इसी संघ में हैं। मैं बलि नहीं करूँगा।

[जनता में जयजयकार। सब धीरे-धीरे जाते हैं]

[पथ में विजया और मातृगुप्त]

विजया—नहीं कविवर! ऐसा नहीं।

मातृगुप्त—कौन, विजया?

विजया—आश्चर्य और शोक का समय नहीं है। सुकवि-शिरोमणि! गा चुके मिलन-संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े! एक बार वह उद्बोधन-गीत गा दो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्नद्ध हो जायँ।

मातृगुप्त—कौन, विजया?

विजया—हाँ मातृगुप्त! एक माला बचाने के लिए जिसने तुम्हारे हाथ में काश्मीर-मण्डल दे दिया था, आज तुम उसी सम्राट् को खोजते हो। एक नहीं, ऐसे सहस्र स्कन्दगुप्त, ऐसे लाखों देव-तुल्य उदार युवक, इस जन्मभूमि पर उत्सर्ग हो जायँ। सुना दो वह संगीत—जिससे पहाड़ हिल जायँ और समुद्र काँप कर रह जायँ, अँगड़ाइयाँ लेकर मुचकुन्द की मोह-निद्रा से भारतवासी जग पड़ें। हम-तुम गली-गली कोने-कोने पर्यटन करेंगे, पैर पड़ेंगे, लोगों को जगावेंगे!

मातृगुप्त—धीर बालिके! तुम धन्य हो। आज से मैं यही करूँगा। (देखकर) वह लो—चक्रपालित आ रहा है!

(चक्रपालित का प्रवेश)

चक्र०—पृथ्वी की लीला, कमल के पत्तों पर जल-बिन्दु, आकाश के मेघ-समारोह—अरे इनमें भी कुछ नीहार-कणिकाओं की प्रभात-लीला। मनुष्य की भाग्य-लिपि वैसी ही है, जैसी अग्नि-रेखाओं से कृष्ण मेघ में बिजली की वर्णमाला—एक क्षण में प्रज्वलित, दूसरे क्षण में विलीन होने वाली! भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य अतीत का स्वामी है।

मातृगुप्त—प्रभु अन्तर्हित!

धातु०—कौन, मातृगुप्त!

भीम०—(सहसा प्रवेश करके) कहाँ है मेरा नाथ, मेरे हृदय का रत्न, युवाओं का तेज, मनुष्यता का शृङ्गार, वीरता का कमनीय वपु, मालव-मुकुट आर्य्य बन्धुवर्मा!

(प्रख्यातकीर्ति और श्रमण का प्रवेश)

प्रख्यात०—वह पागल, छूट गये-से, अनाथ और आश्रय-हीन—यही तो हैं। आर्य्यराष्ट्र के कुचले हुए अंकुर, मग्न साम्राज्य-पोत के टूटे हुए पत्रे और पतवार, ऐसे वीर हृदय! ऐसे उदार!!

मातृगुप्त—तुम कौन हो?

प्रख्यात०—सम्भवतः तुम्हीं मातृगुप्त हो!

मातृगुप्त—(शोक से हँसता हुआ) क्यों अँधेरी कुंजों के समान झँपते हुए यहाँ भी! परन्तु तुम

प्रख्यात०—संदेह मत करो मातृगुप्त! शैशव-सहचर कुमार धातुसेन की आज्ञा से मैं तुम लोगों को खोज रहा हूँ। यह लो परिचय-पत्र।

मातृगुप्त—(पढ़ कर) धन्य सिंहल के युवराज! कह देना, मैं आज्ञानुसार चलूँगा, और कनिष्क-चैत्य के समीप भेंट होगी।

प्रख्यात०—कल्याण हो! (जाता है)

भीमवर्मा—कहाँ चलें हम लोग?

मातृगुप्त—उसी जंगल में!

[सब लोग जाते हैं]

[कमला की कुटी]

(विचित्र अवस्था में स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्द०—बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की-सी सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिए। चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है—उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है। तेरा मुकुट श्रमजीवी की टोकरी से भी तुच्छ है!

कमला-सहचर—क्या जिस पर कृपा होती है, उसी को दुःख का अमोघ दान देते हो? नाथ! मुझे दुःखों से भय नहीं, संसार के संकोच पूर्ण संकेतों की लज्जा नहीं। वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बन्धनों से छूटता है, और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है। परन्तु यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था! आर्य्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था! हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान आश्रय-वृक्ष—गुप्त साम्राज्य—हरा-भरा रहे, और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो। ओह! जाने दो, गया, सब कुछ गया! मन बहलाने को कोई वस्तु न रही। कर्तव्य—विस्मृत, भविष्य—अन्धकार-पूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनन्त सागर का संतरण है!

बजा दो वेणु मनमोहन! बजा दो।
हमारे सुप्त जीवन को जगा दो।
विमल स्वातंत्र्य का बस मंत्र फूँको।
हमें सब भीति बन्धन से छुड़ा दो।
सहारा उन अँगुलियों का मिले हाँ!
रसीले राग में मन को मिला दो।

दुखी मत हो इसी को बतला दो।

इसे आनन्दमय जीवन बना दो।

(प्रार्थना में झुकता है ; उन्मत्त भाव से शर्वनाग का प्रवेश)

शर्व०—छीन लिया, गोद से छीन लिया, सोने के लोभ से मेरे लालों को शूल पर मांस की तरह सेंकने लगे। जिन पर विश्व-भर का भंडार लुटाने को मैं प्रस्तुत था, उन्हीं गुदड़ी के लालों को राक्षसों ने—हूणों ने—लुटेरों ने—लूट लिया! किसने आहों को सुना? —भगवान् ने? नहीं, उस निष्ठुर ने नहीं सुना। देखते हुए भी न देखा। आते थे कभी एक पुकार पर, दौड़ते थे कभी आधी आह पर, अवतार लेते थे कभी आर्त्तों की दुर्दशा से दुखी होकर, अब नहीं। देश के देश कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई नाश की प्रचंड ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपने ज्वालामुखियों को बर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है, पिघल कर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता! अरे जड़, मूक, बधिर, प्रकृति के टीले!

(उन्मत्त भाव से प्रस्थान)

स्कन्द०—कौन है? यह शर्वनाग है क्या! क्या अन्तर्वेद भी हूणों से पादाक्रान्त हुआ! आर्य्यावर्त्त का दुर्दैव बिजली के अक्षरों में क्या भविष्यत् लिख रहा है! भगवान्! यह सर्वनाश! आर्य्य-साम्राज्य की हत्या का कैसा भयानक दृश्य है! कितना वीभत्स है! सिंहों की विहारस्थली में शृगाल-वृन्द सड़ी लोथ नोच रहे हैं!

(पगली रामा का प्रवेश, स्कन्द को देखकर)

रामा—लुटेरा है तू भी! क्या लेगा, मेरी सूखी हड्डियाँ! वह दाँतों में खटकेंगी! देख तो—*(हाथ बढ़ाती है)*

स्कन्द०—कौन? रामा!

रामा—(आश्चर्य से) मैं रामा हूँ ! हाँ, जिसकी संतान को दुष्टों ने पीस डाला ! (ठहर कर) मेरी ! मेरी संतान ! इन अभागों की-सी वे नहीं थीं। वे तो तलवार की बारीक धार पर पैर फैला कर सोना जानती थीं ! धधकती हुई ज्वाला में हँसते हुए कूद पड़ती थीं। तुम (देखती हुई) लुटेरे भी नहीं, ऊँह, कायर भी नहीं, अकर्मण्य बातों में भुलानेवाले तुम कौन हो ! देखा था एक दिन ! वही तो है जिसने अपनी प्रचंड हुंकार से दस्युओं को कँपा दिया था, ठोकर मार कर सोई हुई अकर्मण्य जनता को जगा दिया था, जिसके नाम से रोएँ खड़े हो जाते थे, भुजाएँ फड़कने लगती थीं। वही स्कन्द—रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्य्यावर्त की छत्रछाया। नहीं, भ्रम हुआ ! तुम निरुद्यम, निस्तेज, उसी के मलिन चित्र से तुम कौन हो !

(प्रस्थान)

स्कन्द०—(बैठकर) आह ! मैं वही स्कन्द हूँ—अकेला, निस्सहाय !

(कमला कुटी खोलकर बाहर निकलती है)

कमला—कौन कहता है तुम अकेले हो ! समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत करो। यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विन्ध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा ! राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ! समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उठो स्कन्द ! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ, और रोनेवालों को हँसाओ। आर्य्यावर्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य्य-पताका के नीचे समग्र विश्व होगा। वीर !

स्कंद०—कौन तुम ? मगध की जननी।

(नेपथ्य में क्रन्दन—बचाओ ! बचाओ !)

स्कंद०—कौन ? देवसेना का-सा स्वर ! क्या यहाँ भी है ? (जाता है)

(देवसेना का पीछा करते हुए हूण का प्रवेश)

देवसेना—भीम ! माँ ! तुम इस अत्याचारी से बचाओ, कहाँ हो ?

हूण—कौन मुझे बचाता है ? (पकड़ना चाहता है, देवसेना छुरी निकाल कर आत्महत्या किया चाहती है। पर्णदत्त सहसा एक ओर से आकर एक हाथ से हूण की गर्दन, दूसरे हाथ से देवसेना की छुरी पकड़ता है।)

हूण—क्षमा हो !

पर्णदत्त—अत्याचारी ! जा, तुझे छोड़ देता हूँ। चलो बेटी, हम लोग चलें महादेवी की समाधि पर।

कमला—कहाँ, वहीं—कनिष्क के स्तूप के पास ?

देवसेना—हाँ, कौन कमला देवी ?

कमला—वही अभागिनी।

देवसेना—अच्छा, आती हूँ, फिर मिलूँगी।

(पर्णदत्त के साथ देवसेना का प्रस्थान)

(स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कंद०—कोई नहीं मिला। कहाँ से वह पुकार आई थी ? मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है। अभिन्न मित्र बन्धुवर्मा की धरोहर ! आह !

कमला—वह सुरक्षित है, घबराइए नहीं। कनिष्क के स्तूप के पास आपकी माता की समाधि है, वहीं पर पहुँचा दी गई है।

स्कन्द—माँ ! मेरी जननी ! तू भी न रही ! हा !

(मूर्च्छित होता है, कमला उसे कुटी में उठा ले जाती है।)

[पटाक्षेप]

पंचम अंक

[पथ में मुद्गल]

मुद्गल—राजा से रंक और ऊपर से नीचे, कभी दुर्दान्त दानव, कभी स्नेह-संवलित मानव, कहीं वीणा की झनकार, कहीं दीनता का तिरस्कार। *(सिर पर हाथ रख कर बैठ जाता है)*

भाग्यचक्र! तेरी बलिहारी! जयमाला यह सुन कर कि बन्धुवर्मा वीर गति को प्राप्त हुए, सती हो गई, और देवसेना को लेकर बूढ़ा पर्णदत्त देवकुलिक सा-सा महादेवी की समाधि पर जीवन व्यतीत कर रहा है। चक्रपालित, वीर भीमवर्मा और मातृगुप्त सम्राट् को खोज रहे हैं। कम विक्षिप्त! सुना है कि विजया का मन कुछ फिरा है, वह भी इन्हीं लोगों के साथ मिली है, परन्तु उस पर विश्वास करने को मन नहीं करता। अनन्तदेवी ने पुरगुप्त के साथ सन्धि कर ली है, मगध में महादेवी और परम भट्टारक बनने का अभिनय हो रहा है। सम्राट् की उपाधि है 'प्रकाशादित्य', परन्तु प्रकाश के स्थान पर अँधेरा है। आलिन्द में गर्मी नहीं। सिंहासन के छिद्र पोले के हैं! समस्त भारत हूणों के चरणों में लोट रहा है, और यथार्थ मूर्ख की बुद्धि के समान अपने कर्मों पर पश्चात्ताप कर रहा है। *(सामने देखकर)* यह विजया आ रही है! तो हट चलूँ।

(उठकर जाना चाहता है)

विजया—अरे मुद्गल! जैसे पहचानता ही न हो। सच है, समय बदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं।

मुद्गल—तुम कौन हो जी! पहचान-पहचान में छाया

अच्छी नहीं लगती और तिस पर मैं हूँ ज्योतिषी। जहाँ देखो वहीं यह प्रश्न होता है, मुझे इन बातों के सुनने में भी संकोच होता है—मुझसे रूठे हुए हैं! किसी दूसरे पर उनका स्नेह है! वह सुन्दरी कब मिलेगी! मिलेगी या नहीं!—इस देश के छबीले छैला और रसीली छोकरियों में यही प्रश्न गुरुजी से पाठ में पढ़ा है। अभिसार के लिए, मुहूर्त पूछे जाते हैं।

विजया—क्यों मुद्गल! मुझे पहचान लेने का भी तुम्हें अवकाश नहीं है?

मुद्गल—अवकाश हो या नहीं, मुझे आवश्यकता नहीं।

विजया—क्या आवश्यकता न होने से मनुष्य, मनुष्य से बात न करे? सच है, आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों की दलाल है। परन्तु मनुष्यता भी कोई वस्तु है मुद्गल!

मुद्गल—उसका नाम न लो। जिस हृदय में अखंड वेग है, तीव्र तृष्णा से जो पूर्ण है, जो कृतघ्नता और क्रूरताओं का भांडार है, जो अपने सुख—अपनी तृप्ति के लिए संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसे मनुष्यता से क्या सम्बन्ध है?

विजया—न सही, परन्तु इतना तो बता सकोगे, सम्राट् स्कन्दगुप्त से कहाँ भेंट होगी? क्योंकि यह पता चला है कि वे जीवित हैं।

मुद्गल—क्या तुम महाराज से भेंट करोगी, किस मुँह से? अवन्ती में एक दिन यह बात सब जानते थे कि विजया महादेवी होगी।

विजया—उसी एक दिन के बदले मुद्गल आज मैं फिर कुछ करना चाहती हूँ। वही एक दिन का अतीत आज तक का भविष्य छिपाये था।

मुद्गल—तुम्हारा साहस तो कम नहीं है।

विजया—मुद्गल! बता दोगे?

पंचम अंक

[पथ में मुद्गल]

मुद्गल—राजा से रंक और ऊपर से नीचे, कभी दुर्दान्त दानव, कभी स्नेह-संवलित मानव, कहीं वीणा की झनकार, कहीं दीनता का तिरस्कार। *(सिर पर हाथ रख कर बैठ जाता है)* भाग्यचक्र! तेरी बलिहारी! जयमाला यह सुन कर कि बन्धुवर्मा वीर गति को प्राप्त हुए, सती हो गईं, और देवसेना को लेकर वृद्ध पर्णदत्त देवकुलिक-सा महादेवी की समाधि पर जीवन व्यतीत कर रहा है। चक्रपालित, वीर भीमवर्मा और मातृगुप्त राजाधिराज को खोज रहे हैं। सब विक्षिप्त! सुना है कि विजया का मन कुछ फिरा है, वह भी इन्हीं लोगों के साथ मिली है, परन्तु उस पर विश्वास करने को मन नहीं करता। अनन्तदेवी ने पुरगुप्त के साथ सन्धि कर ली है, मगध में महादेवी और परम भट्टारक बनने का अभिनय हो रहा है। सम्राट् की उपाधि है 'प्रकाशादित्य', परन्तु प्रकाश के स्थान पर अँधेरा है। आतिश में गर्मी नहीं। सिंहासन के सिंह सोने के हैं। समस्त भारत हूणों के चरणों में लोट रहा है, और मद्यप मूर्ख की बुद्धि के समान अपने कर्मों पर पश्चात्ताप कर रहा है। *(सामने देखकर)* यह विजया आ रही है! तो हट चलें।

(उठकर जाना चाहता है)

विजया—अरे मुद्गल! जैसे पहचानता ही न हो। सच है, समय बदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं।

मुद्गल—तुम कौन हो जी! अजान-पहचान के पीछा

अच्छी नहीं लगती और जिस पर मैं हूँ ज्योतिषी। जहाँ देखो वहीं यह प्रश्न होता है, मुझे उन बातों के सुनने में भी संकोच होता है—मुझसे रूठे हुए हैं! किसी दूसरे पर उनका स्नेह है! वह सुन्दरी कब मिलेगी! मिलेगी या नहीं!—इस देश के छबीले छैल और रसीली छोकरियों ने यही प्रश्न गुरुजी से पाठ में पढ़ा है। अभिसार के लिए, मुहूर्त पूछे जाते हैं!

विजया—क्या मुद्गल! मुझे पहचान लेने का भी तुम्हें अवकाश नहीं है!

मुद्गल—अवकाश हो या नहीं, मुझे आवश्यकता नहीं।

विजया—क्या आवश्यकता न होने से मनुष्य, मनुष्य से बात न करे! सच है, आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों की दलाल है। परन्तु मनुष्यता भी कोई वस्तु है मुद्गल!

मुद्गल—उसका नाम न लो। जिस हृदय में अखंड वेग है, तीव्र तृष्णा से जो पूर्ण है, जो कृतघ्नता और क्रूरताओं का भांडार है, जो अपने सुख—अपनी तृप्ति के लिए संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसे मनुष्यता से क्या सम्बन्ध है!

विजया—न सही, परन्तु इतना तो बता सकोगे, सम्राट् स्कन्दगुप्त से कहाँ भेंट होगी! क्योंकि यह पता चला है कि वे जीवित हैं।

मुद्गल—क्या तुम महाराज से भेंट करोगी, किस मुँह से! अवन्ती में एक दिन यह बात सब जानते थे कि विजया महादेवी होगी!

विजया—उसी एक दिन के बदले मुद्गल आज मैं फिर कुछ करना चाहती हूँ। वही एक दिन का अतीत आज तक का भविष्य छिपाये था।

मुद्गल—तुम्हारा साहस तो कम नहीं है।

विजया—मुद्गल! बता दोगे!

मुद्गल—तुम विश्वास के योग्य नहीं। अच्छा अब और तुम क्या कर लोगी। देवसेना के साथ यहीं पर्णदत्त रहते हैं, आज कमलादेवी के कुटीर से सम्राट् यहीं अपनी जननी की समाधि पर आने वाले हैं, उसी कनिष्क-स्तूप के पास। अच्छा, मैं जाता हूँ। देखो विजया! मैंने बता दिया, पर सावधान!

(जाता है)

विजया—उसने ठीक कहा। मुझे स्वयं अपने पर विश्वास नहीं! स्वार्थ में ठोकर लगते ही मैं परमार्थ की ओर दौड़ पड़ी, परन्तु क्या यह सच्चा परिवर्तन है? क्या मैं अपने को भूल कर देव-सेवा कर सकूँगी! क्या देवसेना   ओह! फिर मेरे सामने वही समस्या! आज तो स्कन्दगुप्त सम्राट् नहीं है, अकिंचन है, तो भी! क्या कहा? नहीं, देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था, परन्तु विजया भी एक बार वही करेगी। पर-सेवा तो होगी ही, यदि मैं अपनी भी कामना पूरी कर सकती! मेरा रत्नगृह अभी बचा है, उसे सेना संकलन करने के लिए सम्राट् को दूँगी, और एक बार बनूँगी महादेवी! क्या नहीं होगा? अवश्य होगा। अदृष्ट ने इसीलिए उस रक्षित रत्नगृह को बचाया है। उससे एक साम्राज्य ले सकती हूँ! तो आज यही करूँगी, और इसमें दोनों होंगे—स्वार्थ और परमार्थ।

(प्रस्थान)

(भटार्क का प्रवेश)

भटार्क—अपने कुकर्मों का फल चखने में कड़वा, परन्तु परिणाम में मधुर होता है। ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट्! परन्तु गया—मेरी ही भूल से सब गया! आज भी वे शब्द सामने आ जाते हैं, जो उस वृद्ध अमात्य ने कह दिये—'भटार्क, सावधान! जिस कालभुजंगी राष्ट्रनीति की

लेकर तुम खेल रहे हो, प्राण देकर भी उसकी रक्षा करना।' हाय! न हम उसे वश में कर सके और न तो उससे अलग हो सके। मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दम्भ, पाखंड की सीमा तक पहुँच गया। अनन्तदेवी—एक क्षुद्र नारी—उसके कुचक्र में, माया के प्रलोभन में, मैंने सब बिगाड़ दिया। सुना है कि कहीं यहीं स्कन्दगुप्त भी है, चलूँ उस महत् का दर्शन तो कर लूँ।

[कनिष्क स्तूप के पास महादेवी की समाधि]

(अकेला पर्णदत्त टहलते हुए)

पर्णदत्त—सूखी रोटियाँ बचा कर रखनी पड़ती हैं। जिन्हें कुत्तों को देते हुए संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय! अक्षय निधि के समान उन पर पहरा देता हूँ! मैं रोऊँगा नहीं, परन्तु यह रक्षा क्या केवल जीवन का बोझ वहन करने के लिए है? नहीं, पर्ण! रोना मत। एक बूँद भी आँसू आँखों में न दिखाई पड़े। तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा। भगवान् यदि होंगे, तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था। संतोष कर उछलते हुए हृदय! सन्तोष कर, तू रोटियों के लिए नहीं जीता है, तू उसकी भूख दिखाता है, जिसने तुझे उत्पन्न किया है। परन्तु जिस काम को कभी नहीं किया, उसे करते नहीं बनता, स्वाँग भरते नहीं बनता, देश के बहुत-से दुर्दशा-ग्रस्त वीर हृदयों की रक्षा के लिए करना पड़ेगा। मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा, साक्षी रहना भगवान्!

(एक नागरिक का प्रवेश)

पर्ण०—बाबा! कुछ दे दो।

नागरिक—और वह तुम्हारी कहाँ गई वह *(स्मरण करता है)*

पर्ण०—मेरी बेटी स्नान करने गई। बाबा! कुछ दे दो।

नागरिक—मुझे उसका गान बड़ा प्यारा लगता है, अगर वह आती, तो तुम्हें कुछ अवश्य मिल जाता। अच्छा, फिर आऊँगा। *(जाता है)*

पर्ण०—*(दाँत पीस कर)*—नीच, दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा! बालों को सँवार कर अच्छे कपड़े पहनकर, अब भी घमंड से तना हुआ निकलता है! कुलवधुओं का अपमान

आक्रमण सहते हुए भी अकड़ कर चल रहा है, अब तक विलास और नीच वासना नहीं गई! जिस देश के नवयुवक ऐसे हों, उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिए। देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज!

देवसेना—(प्रवेश करके) क्या है बाबा! क्यों खिन्न हो? जाने दो, जिसने नहीं दिया—उसने अपना, कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।

पर्ण०—अपना! देवसेना! अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए—हम भूखों के लिए—रख छोड़ा है। वह थाती है, उसे लौटाने में इतनी कुटिलता! विलास के लिए उन के पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिए नहीं? अन्याय का समर्थन करते हुए तुम्हें भूल न जाना चाहिए कि

देवसेना—बाबा! क्षमा करो। जाने दो, कोई तो देगा।

पर्ण०—हमारे ऊपर सैकड़ों अनाथ वीरों के बालकों का भार है। बेटी! वे युद्ध में मरना जानते हैं, परन्तु भूख से तड़पते हुए उन्हें देख कर आँखों से रक्त गिर पड़ता है।

देवसेना—बाबा! महादेवी की समाधि स्वच्छ करती हुई आ रही हूँ। कई दिन से भीम नहीं आया, मातृगुप्त भी नहीं, सब कहाँ हैं?

पर्ण०—आवेंगे बेटी! तुम बैठो, मैं अभी आता हूँ।

(प्रस्थान)

देवसेना—संगीत सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गन्ध रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ, और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी-जीवन! मेरे प्रिय गान! अब क्यों गाऊँ और क्या सुनाऊँ?

इस बार बार के गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खींचता है ! केवल सुनने की ही नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनन्त काल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।

(गाती है)

शून्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश,
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश।
हृदय! तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझमें,
मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझसे न कुछ मुझमें।
रस-निधि में जीवन रहा, मिटी न फिर भी प्यास,
मुँह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस।
हृदय! तू है बना जलनिधि, लहरियाँ खेलतीं तुझमें
मिला अब कौन-सा नवरत्न जो पहले न था तुझमें!

(प्रस्थान)

(वेश बदले हुए स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कंद०—जननी! तुम्हारी पवित्र स्मृति को प्रणाम!

(समाधि के समीप घुटने टेक कर फूल चढ़ाता है)

माँ! अन्तिम बार आशीर्वाद नहीं मिला, इसीसे यह कष्ट, यह अपमान! माँ तुम्हारी गोद में पलकर भी तुम्हारी सेवा न कर सका—यह अपराध क्षमा करो।

(देवसेना का प्रवेश)

देवसेना—*(पहचानती हुई)* कौन ? अरे! सम्राट् की जय हो!

स्कन्दगुप्त—देवसेना!

देवसेना—हाँ राजाधिराज! धन्य भाग्य, आज दर्शन हुए।

स्कंदगुप्त—देवसेना! बड़ी-बड़ी कामनाएँ थीं।

देवसेना—सम्राट्!

स्कंदगुप्त—क्या तुमने यहीं कोई कुटी बना ली है?

देवसेना—हाँ, यहीं गाकर भीख माँगती हूँ, और आर्य्य पर्णदत्त के साथ रहती हुई महादेवी की समाधि परिष्कृत करती हूँ।

स्कन्द०—मालवेश-कुमारी देवसेना! तुम और यह कर्म! समय जो चाहे करा ले! कभी हमने भी तुम्हें अपने काम का बनाया था।

देवसेना! यह सब मेरा प्रायश्चित्त है। आज मैं बन्धुवर्म्मा की आत्मा को क्या उत्तर दूँगा? जिसने निःस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊँगा? मैं यह सब देखता हूँ, और जीता हूँ।

देवसेना—मैं अपने लिए ही नहीं माँगती देव! आर्य्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्न एकत्र किये हैं, वे सब निरवलम्ब हैं। किसी के पास टूटी हुई तलवार ही बची है, तो किसी के जीर्ण वस्त्र-खंड। उन सब की सेवा इसी आश्रम में होती है।

स्कन्द०—वृद्ध पर्णदत्त, तात पर्णदत्त! तुम्हारी यह दशा! जिसके घोड़े से आग बरसती थी, वह जंगल की लकड़ियाँ बटोर कर आग सुलगाता है! देवसेना! अब इसका कोई काम नहीं, चलो महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हो, हम तुम अब अलग न होंगे। साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ; वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊँगा, और एकान्त वास करूँगा।

देवसेना—सो न होगा सम्राट्! मैं दासी हूँ। मालव ने जो देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी। सम्राट्! देखो, यहीं पर सती जयमाला की भी छोटी-सी समाधि है, उसके गौरव की भी रक्षा होनी चाहिए।

स्कन्द०—देवसेना! बन्धुवर्म्मा की भी तो यही इच्छा थी।

देवसेना—परन्तु क्षमा हो सम्राट्! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी, परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी।

स्कन्द०—देवसेना! एकांत में, किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो।

देवसेना—तब तो और भी नहीं। मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परन्तु उसका उद्देश भी सफल होना चाहिए। आप को अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी। सम्राट्, क्षमा हो। इस हृदय में — आह! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़ कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए; उसे कामना के भँवर में फँसा कर कलुषित न कीजिए। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।

(पैरों पर गिरती है)

स्कन्द०—*(आँसू पोंछता हुआ)* उठो देवसेना! तुम्हारी विजय हुई। आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं कुमार जीवन ही व्यतीत करूँगा। मेरी जननी की समाधि इसमें साक्षी है।

देवसेना—हैं, हैं, यह क्या किया?

स्कन्द०—कल्याण का श्रीगणेश! यदि साम्राज्य का उद्धार कर सका, तो उसे पुरगुप्त के लिए निष्कंटक छोड़ जा सकूँगा।

देवसेना—*(निःश्वास लेकर)* देवव्रत! तुम्हारी जय हो। जाऊँ आर्य्य पर्णदत्त को लिवा लाऊँ। *(प्रस्थान)*

(विजया का प्रवेश)

विजया—इतना रक्तपात और इतनी ममता, इतना मोह—जैसे सरस्वती के शोणित जल में इन्दीवर का विकास। इसी कारण अब भी मैं मरती हूँ। मेरे स्कन्द! मेरे प्राणाधार!

स्कन्द०—(घूम कर)—यह कौन इन्द्रजाल मंत्र? अरे विजया!

विजया—हाँ, मैं ही हूँ।

स्कन्द०—तुम कैसे?

विजया—तुम्हारे लिए मेरे अन्तस्तल की आशा जीवित है!

स्कन्द०—नहीं विजया! उस खेल को खेलने की इच्छा नहीं, यदि दूसरी बात हो तो कहो। उन बातों को रहने दो।

विजया—नहीं, मुझे कहने दो। (सिसकती हुई) मैं अब भी .. ..

स्कन्द०—चुप रहो विजया! यह मेरी आराधना की—तपस्या की भूमि है, इसे प्रवंचना से कलुषित न करो। तुम से यदि स्वर्ग भी मिले, तो मैं उससे दूर ही रहना चाहता हूँ।

विजया—मेरे पास अभी दो रत्न-गृह छिपे हैं, जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही उन हूणों को परास्त कर सकते हो।

स्कन्द०—परन्तु, साम्राज्य के लिए मैं अपने को नहीं बेच सकता। विजया! चली जाओ, इस निर्लज्ज प्रलोभन की आवश्यकता नहीं। यह प्रसंग यहीं तक।

विजया—मैंने देशवासियों की सेवा करने का संकल्प किया है, और अदृष्ट का संघर्ष छोड़ दिया है। तुम्हारी सेवा के उपयुक्त बनने का उद्योग कर रही हूँ। मैं मालव और सौराष्ट्र को तुम्हारे लिए स्वतंत्र करा दूँगी, अपलोभी हूण-दस्युओं से उसे छुड़ा लेना मेरा काम है। अब तुम स्वीकार कर लो।

स्कन्द०—विजया! तुमने मुझे इतना लोभी समझ लिया

पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा—कभी पिशाची शान्ति-पाठ पढ़ेगी ?

विजया—(*सिर नीचा करके*) अपराध हुआ।

भटार्क—फिर भी किसके साथ ? जिसके ऊपर अत्याचार करके मैं भी लज्जित हूँ जिससे क्षमा-याचना करने मैं आ रहा था। नीच स्त्री !

विजया—घोर अपमान, तो बस

(*छुरी निकाल कर आत्म-हत्या करती है*)

स्कन्द०—भटार्क ! इसके शव का संस्कार करो।

भटार्क—देव ! मेरी भी लीला समाप्त है।

(*छुरी निकालकर अपने को मारना चाहता है, स्कन्द हाथ पकड़ लेता है*)

स्कन्द०—तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है। तुम्हारा यह प्रायश्चित्त नहीं। रणभूमि में प्राण देकर जननी जन्म-भूमि का उपकार करो। भटार्क ! यदि कोई साथी न मिला, तो साम्राज्य के लिए नहीं—जन्मभूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा और तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी होगी, पुरगुप्त को सिंहासन देकर मैं वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करूँगा। आत्म-हत्या के लिए जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रक्खो।

भटार्क—(*स्कन्द के सामने घुटने टेककर*) 'श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय हो !' जो आज्ञा होगी, वही करूँगा।

स्कन्द०—पहले इस शव का प्रबन्ध होना चाहिए। (*प्रस्थान*)

भटार्क—(*स्वगत*) इस दूषित शव का अग्नि-संस्कार करना ठीक नहीं, लाओ इसे यहीं गाड़ दूँ।

(*भूमि खोदते समय एक भयानक शब्द के साथ रत्न गृह का प्रकट होना और भटार्क का भयभीत होकर पुकारना ; स्कन्दगुप्त का आकर रत्न-गृह देखना*)

स्कन्द०—भटार्क ! यह तुम्हारा है।

भटार्क—हाँ सम्राट् ! यह हमारा है, इसीलिए देश का है। आज से मैं सेना-संकलन में लगूँगा।

स्कन्द०—यह दूर पर बड़ी भीड़ हो रही है स्तूप के पास।

भटार्क—नागरिकों का उत्सव है। (रत्नगृह बन्द करके) चलिए, देखूँ।

(स्तूप का एक भाग—नागरिकों का आना। उन्हीं में वेश बदले हुए मातृगुप्त, भीमवर्मा चक्रपालित, शर्वनाग, कमला, रामा इत्यादि। दूसरी ओर से वृद्ध पर्णदत्त का हाथ पकड़े हुए देवसेना का प्रवेश)

१—नागरिक—अरे यह छोकरी आ गई, इससे कुछ सुना जाय।

२—नागरिक—हाँ रे छोकरी! कुछ गा तो।

पर्ण०—भीख दो बाबा! देश के बच्चे भूखे हैं, नंगे हैं, असहाय हैं; कुछ दो बाबा!

१—अरे गाने भी दे बुड्ढे!

पर्ण०—हाय रे अभागे देश!

(देवसेना गाती है)

देश की दुर्दशा निहारोगे,
डूबते को कभी उबारोगे।
हारते ही रहे, न है कुछ अब,
दाँव पर आपको न हारोगे।
कुछ करोगे कि बस सदा रोकर
दीन हो दैव को पुकारोगे।
सो रहे तुम न भाग्य सोता है
आप बिगड़ी तुम्हीं सँवारोगे।
दीन जीवन बिता रहे अब तक
क्या हुए जा रहे, विचारोगे।

पर्ण०—नहीं बेटी, निर्लज्ज कभी विचार नहीं करेंगे।

चक्रपालित और भीमवर्मा—आर्य्य पर्णदत्त की जय!

पर्ण०—मुझे जय नहीं चाहिए—भीख चाहिए। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए, कोई देगा भीख में!

स्कन्द०—(भीड़ से निकल कर) मैं प्रस्तुत हूँ तात !

भटार्क—श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय हो !

(नागरिकों में से बहुत-से युवक निकल पड़ते हैं)

सब—हम हैं, हम आपकी सेना के लिए प्रस्तुत हैं।

स्कन्द०—आर्य्य पर्णदत्त !

पर्ण०—आओ वत्स ! सम्राट्। (आलिंगन करता है)

[उत्साह से जनता पूजा के फूल बरसाती है। चक्रपालित, भीमवर्मा, मातृगुप्त, शर्वनाग, कमला, रामा, सब का प्रकट होना—जयनाद]

[महाबोधि-विहार]

(अनन्त देवी, पुरगुप्त, प्रख्यातकीर्ति, हूण-सेनापति)

अनन्त०—इसका उत्तर महाश्रमण देंगे।

हूण-सेनापति—मुझे उत्तर चाहिए, चाहे कोई दे।

प्रख्यात०—सेनापति! मुझसे सुनो, समस्त उत्तरापथ का बौद्ध संघ जो तुम्हारे उत्कोच के प्रलोभन में भूल-गया था, वह अब न होगा।

हूण-सेना०—तभी बौद्ध जनता से जो सहायता हूण-सैनिकों को मिलती थी, बन्द हो गई, और उलटा तिरस्कार!

प्रख्यात०—वह भ्रम था। बौद्धों को विश्वास था कि हूण लोग सद्धर्म का उत्थान करने में सहायक होंगे, परन्तु ऐसे हिंसक लोगों को सद्धर्म कोई आश्रय नहीं देगा। (पुरगुप्त की ओर देख कर) यद्यपि संघ ऐसे अकर्मण्य युवक को आर्य्यसाम्राज्य के सिंहासन पर नहीं देखना चाहता, तो भी बौद्ध धर्माचरण करेंगे, राजनीति में भाग न लेंगे।

अनन्त०—भिक्षु! क्या कह रहे हो! समझ कर कहना।

हूण-सेना०—गोपाद्रि से समाचार मिला है, स्कन्दगुप्त फिर जी उठा है, और सिन्धु के इस पार के हूण उसके घेरे में हैं, सम्भवत शीघ्र ही अन्तिम युद्ध होगा। तब तक के लिए संघ को प्रतिज्ञा भंग न करनी चाहिए।

पुरगुप्त—क्या युद्ध! तुम लोगों को कोई दूसरी बात नहीं

अनन्त०—चुप रहो।

पुरगुप्त—तब फिर एक पात्र। (सेवक देता है)

प्रख्यात०—अनार्य्य! विहार में मद्यपान! निकलो यहाँ से।

अनन्त०—भिक्षु! समझ कर बोलो, नहीं तो मुंडित मस्तक भूमि पर लोटने लगेगा!

हूण-सेना०—इसी की सब प्रवञ्चना है। इसका तो मैं अवश्य ही वध करूँगा।

प्रख्यात०—धार्मिक और अनात्मभाव में किसका कौन वध करेगा मूर्ख!

हूण-सेना०—पाखण्ड! मरने के लिए प्रस्तुत हो।

प्रख्यात०—सिंहल के युवराज की प्रेरणा से हम लोग इस सत्पथ पर अग्रसर हुए हैं, वहाँ से नहीं लौट सकते हैं।

(हूण-सेनापति मारना चाहता है)

कुमार धातुसेन—(सहसा प्रवेश करके) 'सम्राट् स्कन्दगुप्त की जय!'

(सैनिक सब को बन्दी कर लेते हैं)

धातु०—कुचक्रियो! अपने फल भोगने के लिए प्रस्तुत हो जाओ! भारत के भीतर की बची हुई समस्त हूण-सेना के रुधिर से यह उन्हीं की लगाई ज्वाला शान्त होगी।

अनन्त०—धातुसेन! यह क्या, तुम हो!

धातु०—हाँ महादेवी! एक दिन मैंने समझाया था तब मेरी उपेक्षा की गई; यह उसी का परिणाम है। (सैनिकों से) सबको शीघ्र सम्राट् स्कन्धावार में ले चलो।

[सबका प्रस्थान]

[रणक्षेत्र]

(सम्राट् स्कन्दगुप्त, भटार्क, चक्रपालित, पर्णदत्त, मातृगुप्त, भीमवर्मा इत्यादि सेना के साथ परिभ्रमण करते हैं।)

॥ (गान) ॥

वीरो!

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार।
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल कर में सप्रीत।
सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे छिड़ा तब मधुर साम-संगीत।
बचा कर बीज रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत।
अरुण केतन लेकर निज हाथ वरुण पथ में हम बढ़े अभीत।
सुना है दधीचि का वह त्याग हमारा जातीयता विकास।
सिन्धु सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह।
धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बंद।
हमीं ने दिया शान्ति-सन्देश, सुखी होते देकर आनन्द।
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट् दया दिखलाते घर-घर घूम।
यवन को दिया दया का दान चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न शील की सिंहल को भी सृष्टि।
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्मभूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे नहीं।
जातियों का उत्थान-पतन, आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर।
खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर।

चरित के पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न।
हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव।
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है वैसा ज्ञान।
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य्य संतान।
जियें तो सदा उसी के लिए यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

सब—(समवेत स्वर से) जय! राजाधिराज स्कन्दगुप्त की जय!!

(हूण-सेना के साथ खिंगिल का आगमन)

खिंगिल—बच गया था भाग्य से, फिर सिंह के मुख में आना चाहता है। भीषण परशु के प्रहारों से तुम्हें अपनी भूल स्मरण हो जायगी।

स्कन्द०—यह बात करने का स्थल नहीं है।

(घोर युद्ध, खिंगिल घायल होकर बन्दी होता है। सम्राट् को बचाने में वृद्ध पर्णदत्त की मृत्यु ; गरुड़ध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है।)

स्कन्द०—धन्य वीर आर्य्य पर्णदत्त!

सब—आर्य्य पर्णदत्त की जय! आर्य्य साम्राज्य की जय!!

(बन्दी-वेश में पुरगुप्त और अनन्तदेवी के साथ धातुसेन का प्रवेश)

स्कन्द०—मेरी सौतेली माता! इस विजय से आप सुखी होंगी।

अनन्त०—क्यों लज्जित करते हो स्कन्द! तुम भी तो मेरे पुत्र हो!

स्कन्द०—आह! यही यदि होती मेरी विमाता! तो देश की इतनी दुर्दशा न होती।

अनन्त०—मुझे क्षमा करो सम्राट्!

[रणक्षेत्र]

(सम्राट् स्कन्दगुप्त, भटार्क, चक्रपालित, पर्णदत्त, मातृगुप्त, भीमवर्मा इत्यादि सेना के साथ परिभ्रमण करते हैं ।)

॥ (गान) ॥

वीरो !

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार ।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार ।
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक ।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक ।
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल कर में सप्रीत ।
सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे छिड़ा तब मधुर साम-संगीत ।
बचा कर बीज रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत ।
अरुण केतन लेकर निज हाथ वरुण पथ में हम बढ़े अभीत ।
सुना है दधीचि का वह त्याग हमारा जातीयता विकास ।
सिन्धु सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह ।
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह ।
धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बंद ।
हमीं ने दिया शान्ति-सन्देश, सुखी होते देकर आनन्द ।
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम ।
भिक्षु होकर रहते सम्राट् दया दिखलाते घर-घर घूम ।
यवन को दिया दया का दान चीन को मिली धर्म की दृष्टि ।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न शील की सिंहल को भी सृष्टि ।
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं ।
हमारी जन्मभूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे नहीं ।
जातियों का उत्थान-पतन, आँधियाँ झड़ी, प्रचंड समीर ।
खड़े देखा झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर ।

चरित के पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न।
हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव।
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य्य संतान।
जियें तो सदा उसी के लिए यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।
सब—(समवेत स्वर से) जय! राजाधिराज स्कन्दगुप्त की जय!!

(हूण-सेना के साथ खिंगिल का आगमन)

खिंगिल—बच गया था भाग्य से, फिर सिंह के मुख में आना चाहता है। भीषण परशु के प्रहारों से तुम्हें अपनी मृत्यु स्मरण हो जायगी।

स्कन्द०—यह बात करने का स्थल नहीं है।

(घोर युद्ध, खिंगिल घायल होकर बन्दी होता है। सम्राट् को बचाने में वृद्ध पर्णदत्त की मृत्यु; गरुड़ध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है।)

स्कन्द०—धन्य वीर आर्य्य पर्णदत्त!

सब—आर्य्य पर्णदत्त की जय! आर्य्य साम्राज्य की जय!!

(बन्दी-वेश में पुरगुप्त और अनन्तदेवी के साथ धातुसेन का प्रवेश)

स्कन्द०—मेरी सौतेली माता! इस विजय से आप सुखी होंगी।

अनन्त०—क्यों लज्जित करते हो स्कन्द! तुम भी तो मेरे पुत्र हो!

स्कन्द०—माँ! यही यदि होता मेरी विमाता! तो देश की इतनी दुर्दशा न होती।

अनन्त०—मुझे क्षमा करो सम्राट्!

स्कन्द०—माता का हृदय सदैव क्षम्य है। तुम किस प्रलोभन से इस कुकर्म में प्रवृत्त हुई हो, वही तो कैकयी ने किया था। तुम्हारा इसमें दोष नहीं। जब तुमने आज मुझे पुत्र कहा, तो मैं भी तुम्हें माता ही समझूँगा। परन्तु कुमारगुप्त के इस अभिषेक को तुमने अपने कुत्सित कर्मों की राख से ढँक दिया। पुरगुप्त!

पुरगुप्त—देव! अपराध हुआ। (पैर पकड़ता है)

स्कन्द०—भटार्क! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। लो, आज इस रण-भूमि में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो। (रक्त का टीका पुरगुप्त को लगाता है)

भटार्क—राजन! अभी आपकी छत्रछाया में हम लोगों को बहुत सी विजय प्राप्त करनी है; यह आप क्या कहते हैं!

स्कन्द०—क्षत-जर्जर शरीर अब बहुत दिन नहीं चलेगा, इसी से मैंने भावी साम्राज्य-नीति की घोषणा कर दी है। इस हूण को छोड़ दो, और कह दो कि सिन्धु के इस पार के पवित्र देश में कभी आने का साहस न करे।

खिंगिल—धन्य सम्राट्! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।

[जाता है]

[उद्यान का एक भाग]

देवसेना—हृदय की कोमल कल्पना। सो जा। जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है! आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सब से मैं विदा लेती हूँ।

आह! वेदना मिली विदाई।
मैंने भ्रम-वश जीवन संचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छलछल थे संध्या के श्रमकण,
आँसू-से गिरते थे प्रतिक्षण।
मेरी यात्रा पर लेती थी —
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में,
गहन-विपिन की तरु छाया में,
पथिक उनींदी श्रुति में किसने—
यह विहाग की तान उठाई।
लगी सतृष्ण दीठ थी सब की,
रही बचाये फिरती कब की
मेरी आशा आह! बावली
तूने खो दी सकल कमाई।
चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर,
उससे हारी-होड़ लगाई।

स्कन्द०—माता का हृदय सदैव क्षम्य है। तुम जिस प्रलोभन से इस दुष्कर्म में प्रवृत्त हुई हो, वही तो कैकेयी ने किया था। तुम्हारा इसमें दोष नहीं। जब तुमने आज मुझे पुत्र कहा, तो मैं भी तुम्हें माता ही समझूँगा। परन्तु कुमारगुप्त के इस अभिषेक को तुमने अपने कुत्सित कर्मों की राख से ढँक दिया। पुरगुप्त!

पुरगुप्त—देव! अपराध हुआ। (पैर पकड़ता है)

स्कन्द०—भटार्क! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। लो, आज इस रण-भूमि में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो। (रक्त का टीका पुरगुप्त को लगाता है)

भटार्क—देवव्रत! अभी आपकी छत्रछाया में हम लोगों को बहुत-सी विजय प्राप्त करनी है, यह आप क्या कहते हैं!

स्कन्द०—क्षत-जर्जर शरीर अब बहुत दिन नहीं चलेगा, इसी से मैंने भावी साम्राज्य-नीति की घोषणा कर दी है। इस हूण को छोड़ दो, और कह दो कि सिन्धु के इस पार के पवित्र देश में कभी आने का साहस न करे।

खिंगिल—सम्राट्! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।

[जाता है]

[उद्यान का एक भाग]

देवसेना—हृदय की कोमल कल्पना! सो जा। जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या मेरे लिए कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सब से मैं विदा लेती हूँ।

आह! वेदना मिली विदाई।
मैंने भ्रम-वश जीवन संचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छलछल थे सन्ध्या के श्रमकण,
आँसू-से गिरते थे प्रतिक्षण।
मेरी यात्रा पर लेती थी —
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में,
गहन-विपिन की तरु छाया में,
पथिक उनींदी श्रुति में किसने—
यह विहाग की तान उठाई।
लगी सतृष्ण दीठ थी सब की,
रही बचाये फिरती कब की
मेरी आशा आह! बावली
तूने खो दी सकल कमाई।
चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर,
उससे हारी-होड़ लगाई।

लौटा लो यह अपनी थाती,
मेरी करुणा हा हा खाती।
विश्व ! न सँभलेगी यह मुझसे,
इससे मन की लाज गँवाई।

(स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्द०—देवसेना !

देव०—जय हो देव ! श्रीचरणों में मेरी भी कुछ प्रार्थना है।

स्कन्द०—मालवेश-कुमारी ! क्या आज्ञा है ? आज बन्धुवर्मा इस आनन्द को देखने के लिए नहीं है। जननी जन्म-भूमि का उद्धार करने की जिस वीर की दृढ़ प्रतिज्ञा थी, जिसका ऋण कभी प्रतिशोध नहीं किया जा सकता, उसी वीर बन्धुवर्मा की भगिनी मालवेश-कुमारी देवसेना की क्या आज्ञा है ?

देवसेना—मैं मृत भाई के स्थान पर यथाशक्ति सेवा करती रही ; अब मुझे छुट्टी मिले।

स्कन्द०—देवी ! यह न कहो। जीवन के शेष दिन, कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग एक दूसरे का मुँह देख कर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परन्तु इस नन्दन की वसन्त-श्री इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ ? (*कुछ ठहर कर सोचते हुए*) और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूँ ? देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ। हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह !!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट् ! यदि इतना भी न कर सके तो क्या ! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही

लौटा लो यह अपनी थाती,
मेरी करुणा हा हा खाती!
विश्व! न सँभलेगी यह मुझसे,
इससे मन की लाज गँवाई!

(स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्द०—देवसेना!

देव०—जय हो देव! श्रीचरणों में मेरी भी कुछ प्रार्थना है।

स्कन्द०—मालवेश-कुमारी! क्या आज्ञा है? आज बन्धुवर्म्मा इस आनन्द को देखने के लिए नहीं हैं। जननी जन्म-भूमि का उद्धार करने की जिस वीर की दृढ़ प्रतिज्ञा थी, जिसका ऋण कभी प्रतिशोध नहीं किया जा सकता, उसी वीर बन्धुवर्म्मा की भगिनी मालवेश-कुमारी देवसेना की क्या आज्ञा है!

देवसेना—मैं मृत भाई के स्थान पर यथाशक्ति सेवा करती रही, अब मुझे छुट्टी मिले।

स्कन्द०—देवी! यह न कहो। जीवन के शेष दिन, कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग एक दूसरे का मुँह देख कर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परन्तु इस नन्दन की वसन्त-श्री इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ! (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूँ!

देवसेना! देवसेना!! तुम जाओ। हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह!!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट! यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही

न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!

(घुटने टेकती है, स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है।)

[यवनिका]